* श्रीः । *

श्रीमदमृतग्रन्थमालायाः (३)

तृतीयं पुष्पम् ।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-
महामहिम-आचार्य-
श्रीमदमृतवाग्भवप्रणीतं

श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रम्

भ्राजते भवभेषजम् ।
विमर्शिन्या प्रकाशिन्या प्रसादिन्या च संयुतम् ।

वि० सं० २०१६ मूल्य
प्रथमं संस्करणम् **श्रीकृष्णजयन्ती** ४ रु० ७५ न० पै०

प्रकाशक—
पं० श्रीगोविन्द मिश्र
(अध्यक्ष--श्रीस्वाध्यायसदन, सोलन)
चौबुर्जी, भरतपुर राजस्थान
पुस्तक के पुनमुद्रण आदिका अधिकार प्रकाशक के अधीन है,

--०*०--

पुस्तकप्राप्तिस्थान

पं० मोहनीप्रसाद शर्मा
दीनानाथ बिल्डिंग नं०६
चन्द्रावली रोड़
सब्जी मण्डी घण्टाघर
देहली

श्रीकेशरीचन्द चम्पकलाल जवेरी
२२ साइन रोड़ प्लाट नं० ६६
मोतीबाग **बम्बई नं० २२**

श्रीरोशनलालजी
अच्छरूराम सोहनलाल
२५,२६ स्टीफन हाऊस
पो० बा० २२५६
कलकत्ता १

मुद्रक---
नव-निर्माण प्रेस,
लक्ष्मी प्रेस,
भरतपुर ।

प्रथमं

* श्रीः *

श्रीमदमृतग्रन्थमालायाः तृतीयं पुष्पम् ।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र--

महामहिम--आचार्य

श्रीमदमृतवाग्भवप्रणीतं

श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रम् ।

श्रीवलजिन्नाथपण्डितप्रणीतया श्रीविमर्शिन्या
श्रीरघुनाथचन्द्रवाशिष्ठप्रणीतया श्रीप्रकाशिन्या
श्रीरामानन्दतिवारीप्रणीतया श्रीप्रसादिन्या च
समलंकृतम्

—*—

डा० श्रीसम्पूर्णानन्दलिखितेन प्राक्कथनेन
डा० श्रीफतहसिंहलिखितया प्रस्तावनया
पं० श्रीहरिशास्त्रिलिखितया (संस्कृत) भूमिकया च
समुद्भासितम् ।

--*--

प्रकाशकः—

मिश्रगोविन्दः

भरतपुरम्

प्रथमं संस्करणम्. सं० २०१६ मूल्यम् ४ रु० ७५ न० पै०

अमृतनिभृतशास्त्रं साधु मुद्रापयित्वा
प्रथयति विबुधानां लब्धुकामः प्रसादम्
अमलमतिप्रसादीलालपुत्रोऽत्रिगोत्रो
भरतपुरनिवासी मिश्रगोविन्दशर्मा

सूचीपत्रम् ।

प्रकाशकका निवेदन	ई-ऋ
प्राक्कथन	ॠ-लृ
प्रस्तावना	ए-ऐ
भूमिका	ओ-अः
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रम् (मूलमात्रम्)	३-६
परिशिष्टम् (१) कारिकाणामकारादिसूची	७
परिशिष्टम् (२) टीकोल्लिखितानां ग्रन्थकर्तॄणां नाम्नां सूची	८
श्रीविमर्शिन्या श्रीप्रकाशिन्या च समेतं श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रम्	९-११८
परिशिष्टम् (३) टीकोल्लिखितानां ग्रन्थनां सूची	११९
परिशिष्टम् (४) टीकोद्धृतप्रमाणवाक्यानामकारादिसूची	१२०
श्रीप्रसादिन्या (हिन्दी) सहितं श्रीविंशतिकाशास्त्रम्	१२१-१७८

॥ श्रीः ॥

प्रकाशकका विनम्र निवेदन

अनन्त कालसे आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक तापत्रयसे सन्तप्त प्राणियोंको इन तापोंसे निर्मुक्त कर परमसुखकी अनुभूतिके हेतु हस्तामलकवत् त्रिलोकदर्शी वीतराग तत्त्वदर्शी दिव्य विभूतियोंने समय समय पर ज्ञानमार्गका नानाविध उपदेश दिया है, जिसके कारण अनेकानेक अज्ञानान्धकारमें भटकने वाली आत्माओंको चिर शान्ति मिली है। परन्तु वे सब उपदेश-मार्ग आजके युगमें मुझ जैसे साधनहीन, दैवीसम्पद्विहीन और अकिञ्चन, फिर भी शुकमुनिवत् परमसुखाभिलाषियोंके लिये केवल शास्त्र ग्रन्थोंमें ही विश्राम लेने वाले उपकारक नहीं हो सकते। इसी कारण समय समय पर आचार्य-कोटि-के महापुरुष अवतीर्ण हो कर सामयिक परिस्थितिके अनुसार लोकहित और लोकरुचिको दृष्टिमें रखते हुए गूढ़से गूढ़ रहस्यको सांकेतिक सरल भाषामें अधिकारानुसार भक्तोंको बतलाते रहे हैं। उसी प्रकार इस सर्वविध-विघ्नपूर्ण कलिकालमें जब कि संस्कृति और संस्कृत दोनों-का ही ह्रास हो रहा है, विस्तृत ग्रन्थोंका समझना और धारण करना बहुत कठिन पड़ रहा है। अकारण परम कारुणिक तपःपूत अमलान्तः करण सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र अनन्तश्रीविभूषित महामहिम श्रीआचार्य चरणों द्वारा वाग्जालपूर्ण विशालकाय महाग्रन्थोंकी शैलीको त्याग कर केवल बीस कारिकाओं वाली लघुकाय "श्रीविंशतिकाशास्त्रम्" नामक पुस्तकमें सब दर्शनोंका निष्कर्ष और सभी तत्त्वज्ञान-प्रतिपादक ग्रन्थोंका सार, फिरभी नितान्त मौलिक और सोपपत्तिक, जनसाधारणके बुद्धिगत होने योग्य, विचित्र, और सरलरीतिसे खोल कर बतला दिया है, जिसका अध्ययन और मनन करनेसे निःसन्देह अनायास ही सभी जिज्ञासु मेरे समान कृतार्थ हो सकते हैं। यही नहीं, पाण्डित्यपूर्ण शैलीमें उलझी हुई बुद्धि वालोंके लिये गागरमें सागरकी उक्तिको चरितार्थ करती है। यह टीकाकारोंके सांकेतिक तत्त्वोंसे व्यक्त है। थोड़े से शब्दोंमें यह तत्त्वोपदेश उसी भाँति प्रतीत होता है जैसा भगवान् नारायण द्वारा श्रीनारदजीको दिये गये ज्ञानोपदेशका विस्तार

श्रीमद् भागवत महापुराण अष्टादशसाहस्री संहिताके रूपमें उपलब्ध है। जिस प्रकार कृतार्थ हुए भक्तप्रवर नारदजीसे संसारके समुद्धारमें समर्थ वह ज्ञानोपदेश अपने मनमें नहीं छिपाया गया, उसी भाँति कृतार्थ हुआ यह मानवशरीरधारी प्रकाशक भी श्रीआचार्यचरणोंके कृपाप्रसाद रूप इस तत्त्वोपदेशको सर्वसुलभ बनाने हेतु प्रकाशनमें प्रयत्नशील है।

मेरे समान उनको भी मैं कम भाग्यशाली नहीं समझता कि जिन्होंने इन कारिकाओंकी लहरीमें अवगाहन कर परमानन्द प्राप्त किया और अपनी लेखनीको पवित्र बनाया है। वस्तुतस्तु कौन किसको किसलिये और किस प्रकार धन्यवाद दे? परन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे जिनको मैं धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता उनमें 'विमर्शिनी' संस्कृत टीकाके लेखक श्रीबलजिन्नाथजी पण्डित, शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल० प्रोफेसर अनन्त नाग कालेज काश्मीर और 'प्रकाशिनी' द्वितीय संस्कृत टीका के लेखक श्रीरघुनाथचन्द्रजी वाशिष्ठ शास्त्री, साहित्यरत्न, आयुर्वेदरत्न, एम० ए० प्रोफेसर मिशन कालेज देहरादून हैं। दोनों ही योग्य विद्वान् महापुरुषोंने मेरे हृदय सरोवरमें छलछलाते अमृतानन्दको श्रद्धालु भक्तोंमें वितरित करनेका सहयोग दिया है। यह आनन्दपरिप्लुतात्मा इनको किन शब्दोंमें धन्यवाद दे?

'प्रसादिनी' हिन्दी टीकाके लेखक श्रीरामानन्दजी तिवारी (भारती नन्दन) 'पार्वती' महाकाव्य (हिन्दी) के कवयिता शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल्, पी० एच० डी०, अध्यक्ष दर्शनविभाग श्रीजयाकालेज भरतपुर (राजस्थान) के लिये तो कहना ही क्या है? जिन्होंने कारिका-सरस्वतीको 'विमर्शिनी' गङ्गा और 'प्रकाशिनी' यमुनाकी सङ्गम स्थली 'प्रसादिनी'को पुण्य प्रयागराज ही बना दिया है। वर्त्तमान भारतकी राष्ट्रभाषा हिन्दी सभीसे परिचित होनेके कारण सभी वर्णोंके अघनाश हेतु सुलभ प्रयागराजके समान यह प्रयागराज भी सर्वहित-कारक है।

इस प्रकारके इस सम्पूर्ण शास्त्रके सम्बन्धमें संक्षेपसे यह कहा जा सकता है—

श्रीविंशतिका-वाणी
टीकाद्वयशोभिता प्रसादिन्याम् ।
ऽघघनाशनाय जयति
त्रिसरित्संमिति: प्रयाग इव ।।

प्राय: अनेक ग्रन्थोंकी टीकाओंमें देशकालकी परिस्थितिके कारण मूलसे मतभेद होजाया करता है। इस ग्रन्थकी यह विशेषता है कि इसके टीकाकार श्री पं० बलजिन्नाथजी, मूल लेखक श्रीआचार्य-चरणोंके विचारोंसे पूर्ण परिचित हैं और लगभग २६ वर्षोंसे मिलना जुलना आदि सम्पर्क रहा है। डा० श्री रामानन्दजी तिवारी और श्री पं० रघुनाथचन्द्रजीने तो साक्षात् ही श्रीमुखसे अध्ययन किया हैं। यह विशेष सन्तोषकी बात है।

'प्राक्कथन'के लेखक वाराणसीके सुप्रसिद्ध विद्वान् माननीय डा० श्रीसम्पूर्णानन्दजी प्रधानमन्त्री उत्तर प्रदेशको मैं हृदयसे धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने अनेक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी हमारी प्रार्थना स्वीकार कर प्राक्कथन लिखनेका कष्ट किया है। डा० फतहसिंहजी को अन्तरात्मासे धन्यवाद देता हूँ कि जिन्होंने अपना अमूल्य समय इस शास्त्रको समझनेमें लगाया और मूलग्रन्थके समान ही इसकी प्रस्तावना भी संक्षिप्त और मार्मिक शब्दोंमें लिखी है, जिससे पाठक लोग इसको पढ़ते ही ग्रन्थके आशयको सरलतासे हृद्गत कर सकते हैं।

ग्रन्थमें सुगमतासे प्रवेश करानेवाली और सारग्राहिणी इस अत्युत्तम 'संस्कृत भूमिका'के लेखक जयपुरके वर्तमान विद्वानोंमें प्रथम श्रेणी के विद्वान् महाराजा संस्कृत कालेजके भूतपूर्व प्राध्यापक श्री पं०हरिशास्त्री जी दाधीच हैं। इनको अनेकानेक हार्दिक धन्यवाद देते हुए अत्यन्त हर्ष-का अनुभव करता हूँ कि जिन्होंने न केवल ग्रन्थको सार्थ पढ़ा और समझा है अपितु मर्मको समझ कर शास्त्ररूपी सरोवर-स्थित कारिका-रूपी अरविन्दोंके मकरन्दका पान कर अपनी लिखी हुई भूमिकाके रूप में पाठकोंको समोद आत्मगुञ्जारव सुना कर वस्तुत: भूमिकापदको चरितार्थ किया है।

इस भूमिकाके सम्बन्धमें किसी प्राचीन कविकी निम्नलिखित उक्ति कितनी चरितार्थ है देखिये —

प्रमिताक्षराऽपि विपुलार्थवती
कवि (हरि) भारती हरति मे (सद्) हृदयम् ।

आजके आर्थिक युगमें प्रकाशन कार्यके भारको वहन करने वाले मेरे प्रिय शिष्य भरतपुर निवासी श्रीगिरिराजशरणजी बयानिया हार्दिक धन्यवादके पात्र हैं । जिनकी आर्थिक सहायतासे आप सभी सज्जनों-के समक्षमें यह 'श्रीविंशतिकाशास्त्रम्' उपस्थित है ।

इस पुस्तकका संशोधन तथा सम्पादन श्रीआचार्यचरणों द्वारा प्रदर्शित रीतिके अनुसार किया गया है फिर भी प्रेसके भूतोंने कई स्थानोंमें गड़बड़ी कर दी है जैसे दसवें पृष्ठकी अन्तिम निचली दो पंक्तियाँ ग्यारहवें पृष्ठके अन्तभागमें मुद्रित (कवि पुराणं) इस गीता पद्यांशसे पूर्वमें होनी चाहियें । और भी छोटी छोटी ह्रस्व दीर्घ आदि की जो त्रुटियाँ रह गयी हैं उन्हें पाठक स्वयं सुधारकर पढ़नेकी कृपा करें ।

मनमें तो यही आता है कि मुद्रण कार्यकर्त्ताओंका भी आभार प्रदर्शित किया जाए, परन्तु 'नवनिर्माण प्रेस' और 'लक्ष्मी प्रेस' नामक दो दो मुद्रणालयोंमें छः मासके निरन्तर परिश्रमके उपरान्त यह पुस्तक, इस रूपमें आयी है, जिसकी कठिनाइयोंका औरोंको ज्ञान नहीं हो सकता । 'लक्ष्मी प्रेस'में केवल हिन्दी व्याख्या और अवशिष्ट सब 'नवनिर्माण प्रेस' में मुद्रित हुआ है । 'नवनिर्माणके' स्वामी श्री किशनलालजी जोशी और 'लक्ष्मी प्रेसके' स्वामी श्रीकन्हैयालालजी को भी धन्यवाद ही है ।

अन्तमें मैं सभी सज्जनोंसे यह निवेदन करता हूं कि पारमार्थिक सिद्धिके लिये इसे अपना कर अपने दुःख मिटावें और मेरी इस तुच्छ सेवाको सफल बनावें ।

श्रीकृष्ण जयन्ती
वि० सं० २०१६

गोविन्द मिश्र
भरतपुर

प्राक्कथन

ले०—डाक्टर श्रीसम्पूर्णानन्द प्रधान मन्त्री उत्तर-प्रदेश

तन्त्र शास्त्रका नाम जितना प्रचलित है उसके सम्बन्धमें वास्तविक ज्ञानकी उतनी ही कमी है। इसका स्पष्ट कारण तो यह है कि वह अवैदिक है अर्थात श्रुतिको प्रमाण नहीं मानता। पीछेसे कुछ विद्वानोंने इस बातका प्रयास किया कि आगम और निगम एक दूसरे-के निकट लाए जाएं। महानिर्वाण तन्त्र जैसे ग्रन्थ इस प्रयासके ख्या-तनामा प्रमाण हैं। नारद पञ्चरात्रके आधार पर लिखित विष्णु भागवतने अपने तान्त्रिक मूलको छिपानेमें बहुत सफलता प्राप्त की है परन्तु स्वयं उसकी भूमिका इस छिपे भेदको खोल देती है। इस बातने भी तन्त्रको साधारण-ज्ञानकी परिधिके बाहर कर दिया और लोगोंमें तान्त्रिक उपासनाके स्थूल रूपकी ही जानकारी थोड़ी बहुत पहुँच सकी। यह बात सिद्धान्त-रूपसे मान ली गई —

अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले ॥

यह धारणा सी बैठ गई कि सभी तान्त्रिक लोग पञ्चमकारका सेवन करते हैं और अपनी भैरवी-चक्र आदि उपासना गोष्ठियोंमें न केवल वर्ण विचारका परित्याग करते हैं परन्तु शास्त्रोक्त गम्या अगम्या आदि नैतिक मर्यादाओंको भी छोड़ बैठते हैं। बिना अध्ययनके ही कुछ धार्मिक आचार्योंने तन्त्रका बुरी तरह खण्डन किया है। अतः इस बातकी आवश्यकता है कि तन्त्रकी मूल बातोंको लोग जानें।

यों तो तन्त्रके कई भेद हैं परन्तु शैव और शाक्त आगम ही प्रसिद्ध हैं। दोनों एक दूसरेसे बहुत मिलते हैं और इनके प्रतिपादक कई मुख्य ग्रन्थोंका प्रकाशन भी हो चुका है। प्रस्तुत पुस्तक में मूल तत्त्व-के प्रकाश और विमर्श रूपोंका विवेचन किया गया है और यह दिखाया गया है कि किस प्रकार उस एक पदार्थने अपने लीलात्मक स्वभावसे इस जगद्रूपी नाटकका अभिनय किया है। यह प्रतिपादन रोचक भाषामें हुआ है और इससे विषयके समझनेमें सहायता मिलेगी।

तान्त्रिक दर्शनको, जो अद्वैतवादी होते हुए भी शाङ्कर मायावादको नहीं स्वीकार करता वरन् श्रीवल्लभाचार्यके शुद्धाद्वैतवादसे मिलता जुलता है, समझना आवश्यक है। शुद्धाद्वैतवादसे इस अंशमें मिलते हुए भी तन्त्रका दार्शनिक सिद्धान्त उससे कई बातोंमें भिन्न है। उपासनाकी शैलीमें तो बहुत ही भेद है। तन्त्रके आचार्योंने ऐसा माना है कि यद्यपि मोक्षके लिये वैराग्य और अभ्यासकी आवश्यकता है परन्तु साधारण मनुष्य पूर्णरूपेण विरक्त नहीं हो सकता। उसकी सहस्त्रों जन्मोंके संस्कारोंसे उत्पन्न प्रवृत्तियां एकदम नहीं रोकी जा सकतीं। रोकनेका प्रयत्न निष्फल ही नहीं वरन् हानिकारक भी हो सकता है। इसलिये वह भोगका तात्कालिक परित्याग न करते हुए योगकी ओर ले जाते हैं। आरंभ में नियन्त्रणके साथ भोगकी अनुमति देते हैं और साधकको भोगके द्वारा ही भोगके ऊपर उठाते हैं। ज्यों ज्यों साधक ऊपर उठता है त्यों त्यों वह नीचेकी भूमिकाओंका परित्याग करता है और योगकी प्रक्रियाओंका अवलम्बन करता है। यह मार्ग शुद्धाद्वैतवादके प्रपत्ति मार्गसे भिन्न है। यदि इस पुस्तकमें तान्त्रिक और वैदिक विचारधाराओंका भेद कुछ स्पष्ट रूपसे दिखलाया गया होता और तान्त्रिक उपासनाकी विशेषताओं को कुछ अधिक स्पष्ट किया गया होता तो पुस्तक अधिक उपयोगी हो जाती। संस्कृत जानने वाले तो बहुत सी पुस्तकोंको पढ़ सकते हैं परन्तु केवल हिन्दी जानने वालोंको वह सब पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं।

प्रत्यक्ष रूपसे लोगोंको तन्त्र सम्बन्धी बहुत कम ज्ञान है परन्तु कुछ तान्त्रिक बिचार और धारणाओंका बहुत प्रचार है। भगवत्पाद शङ्कराचार्य लिखित सौन्दर्यलहरीको और कुछ नहीं तो साहित्यके नाते तो लोग पढ़ते ही हैं। यह दूसरी बात है कि उसमें दर्शन और योगमूलक उपासना जैसे गम्भीर विषयोंका जो समावेश है उस ओर पूरा पूरा ध्यान न जाता हो। जो लोग योगकी चर्चा करते हैं उनके मुंह पर बार बार कुण्डलिनी शक्तिके उद्बोधका नाम आता है। ऐसे साधक जो किसी भी दृष्टिसे तन्त्रानुगामी नहीं कहे जा सकते तन्त्रमूलक भाषाका प्रयोग करते हैं। उदाहरणके लिये सन्तमतके प्रसिद्ध महा-

त्मा पलटूदासजी कहते हैं "शिव शक्तीके मिलनमें मोंको भया अनन्द"
प्रामाणिक तन्त्रग्रन्थोंका अनुकरण करके न जाने कितने कृत्रिम बीज
मन्त्रोंकी सृष्टि की गई है, यद्यपि मेरा पूरा विश्वास है कि न तो इन
मन्त्रोंके प्रवर्तक, न उनका जप करने वाले, इस बातको जानते हैं कि
बीज मन्त्र क्या वस्तु है अंग्रेजी पढ़ने वालों के लिये श्री वुडराफके प्रय-
त्नसे तन्त्र सम्बन्धी ज्ञान कुछ हद तक सुलभ हो गया है । मैं आशा
करता हूं कि एक दिन हिन्दीको भी यह सौभाग्य प्राप्त होगा । प्रस्तुत
पुस्तक की २३ कारिकाओं पर दो संस्कृत टीकाएं और एक हिन्दी
टीका सँलग्न हैं । इनसे विषय के समझनेमें सहायता मिलेगी और
जिज्ञासुको उस विस्तृत वाङ्मयका कुछ परिचय मिलेगा जिसका
प्रणयन पहले कई सौ वर्षोंमें विद्वानों और साधकोंने किया है । कुछ
लोगोंका ऐसा मत है कि आगम अर्थात् तन्त्र शास्त्र मूल रूपमें निगम
अर्थात् वेदसे भी प्राचीन है । मैं इस सम्बन्धमें कोई सम्मति नहीं दे
सकता परन्तु यह तो निश्चय है कि वेदमें भी तन्त्र प्रतिपादित तत्त्वोंकी
यत्र तत्र झलक मिलती है । ऋग्वेदका वह प्रसिद्ध सूक्त जिसकी ऋषि
अम्भृण ऋषिकी पुत्री वाक् हैं इसका विख्यात प्रमाण है । सच तो यह
है कि आज हम देवता शब्दके अर्थको भूल गए हैं, नहीं तो प्रत्येक वेदा-
नुयायी इस बातको जानता कि वेदमन्त्रोंके द्वारा देवोंकी उपासना
नहीं परन्तु पराशक्तिका ही नाना देवताओंके रूपमें आह्वान होता है ।
सप्तशतीका पाठ घर घर होता है परन्तु उसका जो पारमार्थिक रहस्य
है उसकी ओर ध्यान नहीं जाता । जिस प्रकाशविमर्शात्मक तत्त्वका
प्रतिपादन तन्त्रके आचार्य करते हैं और जिसकी ओर नासदीयसूक्तमें
'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' कह कर संकेत किया गया है वही अपनी
"स्वयंसिद्धा ब्रह्मशक्ति" के द्वारा जगत्में सज्ज्ञानका प्रचार करे और वह
भगवती अपनी अनुग्रह लीलासे जगत्का कल्याण करे।

सम्पूर्णानन्द

बुक हिल हाउस नैनीताल
जुलाई ५, १९५६

प्रस्तावना

[ले० —डा० फतहसिंह एम. ए., डी. लिट्-
प्रिंसिपल, गवर्नमेन्ट कालिज, ब्यावर

श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्र एक अनुपम कृति है। इसमें २३ कारिकाएँ हैं। जिनमेंसे तीनमें मङ्गलाचरण, रचनाकाल तथा रचनानिमित्त दिया गया है, और शेष २० कारिकाओंमें ही समस्त शास्त्र रख दिया गया है। यह सूत्रशैलीकी पराकाष्ठा सी है, क्योंकि 'परात्रिंशिकामें भी ३५ कारिकाओंका आश्रय लिया गया है, और सम्भवत: उसके पश्चात् यह सर्व-प्रथम अवसर है कि जब इतने विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण विषयको और अधिक संक्षिप्त रूप देनेका प्रयास किया गया है, वह भी केवल २० कारिकाओंमें ही। यह 'गागरमें सागर' नहीं 'बिन्दुमें सिन्धु' है। इसको पढ़नेसे श्रीतन्त्रालोकका गाम्भीर्य श्रीशिवसूत्रकी सूत्रात्मकता, श्रीस्पन्दकारिकाका प्रवाह और श्रीमहार्थमञ्जरीकी सरलताकी स्मृति आती है। अत: ऐसी पुस्तककी भूमिका लिखनेमें मैं बहुत बहुत गौरवका अनुभव करता हूं।

श्रीअमृतवाग्भवाऽऽचार्यने, प्राचीन परम्पराके अनुसार, यह शास्त्र अपने शिष्यके लिये लिखा है। शिष्य वह है जो सिखाया जा सके, जो सिखाने योग्य हो, या जो इस शास्त्रको ग्रहण करनेके लिये सर्वथा सुपात्र और अधिकारी हो। शिष्यकी यह योग्यता या पात्रता उसी जिज्ञासुमें आ सकती है जो आचार्यका अन्तेवासी बन कर उसके आचरण और शीलको अपने जीवनमें उतारनेके लिये सच्चे हृदयसे प्रयत्नशील हो। आचार्य तो अध्यात्मविद्या ऐसे ही शिष्यको देते आये हैं। क्योंकि अन्योंके लिये वह समझके बाहरकी वस्तु है। ऐसे लोग भी हो सकते हैं जो शिष्य होनेकी योग्यता तो नही रखते, परन्तु उस योग्यताको प्राप्त करने की इच्छा अवश्य रखते हैं इन लोगोंके लिये, आचार्यके तीन विद्वान् श्रद्धालुओंने पुस्तककी तीन टीका लिखी हैं जो प्रस्तुत पुस्तकके साथ ही प्रकाशित हुई हैं। इनमेंसे **'विमर्शिनी'** और

'प्रकाशिनी' संस्कृतज्ञोंके लिये हैं और शिवसूत्रविमर्शिनी आदि की परम्परामें लिखी हुई उत्कृष्ट रचनाएँ कही जा सकती हैं। तीसरी टीका 'प्रसादिनी' है जो हिन्दी भाषियोंके लिये अत्यन्त सरल सुबोध और सरस शैलीमें लिखी हुई होने पर भी, संस्कृत-टीका--परम्पराकी समस्त गम्भीरता एवं गरिमाको अक्षुण्ण रखने वाली संभवत: हिन्दीमें अपने ढंगकी सर्वप्रथम मौलिक रचना है।

यदि सारे जगत्का विश्लेषण किया जाय, तो उसमें तीन तत्त्व मिलेंगे -- ज्ञाता,ज्ञान और ज्ञेय, परन्तु इन तीनोंके स्फुरणमें जो एक मात्र आधारभूत चैतन्य शक्ति है वह आत्मशक्ति है। यह आत्मशक्ति तत्त्वत: स्वतन्त्र, निरपेक्ष, अमृत, परिपूर्ण, शक्तिघन, स्वप्रकाश है, और यही 'अहम्' है। अद्वैत दृष्टिसे यही 'अहम्, ब्रह्मका वाचक भी हो सकता है। अत: भारतीय एकेश्वरवाद या अद्वैत सत्तावाद जब विदेशोंमें फैला, तो 'अहम्' शब्द अवेस्तां मार्गसे यहूदी परम्परामें 'इल' उपसर्गके साथ मिल कर 'इलोहीम' और इस्लामी परम्परामें 'अल' के साथ अल्लाह हो गया और एक-मात्र प्रभुसत्ताका द्योतक हो गया।

'अहम्' रूप आत्मशक्ति तत्त्वत: प्रकाशस्वरूप है, जो अपने-को अपनी विमर्शशक्तिके द्वारा व्यक्त करती हुई नानारूपात्मक होती है। एक प्रकारसे 'विमर्श'–रूपमें वह प्रथम रूपका विलोम है, अत: उसका नाम 'मह:' है जो 'अहम्' का उलटा है। परन्तु 'अहम्' और 'मह' को दो भिन्न वस्तुएं मानना भूल होगा। वस्तुत: एक ही ब्रह्मशक्ति या आत्मशक्ति 'अहम्–मह' हो कर प्रकाशविमर्शात्मक हो कर सृष्टि, स्थिति और लयको करने वाली है। यही परम सत्य है, जिसका साक्षात्कार करना ही परम पुरुषार्थ है और इसीकी ओर सङ्केत करना प्रस्तुत पुस्तकका एक मात्र ध्येय है।

आशा है कि न केवल विद्वान् लोग अपितु साधारण जन भी इस शास्त्रसे लाभ उठा कर अपनेको गौरवान्वित करेंगे।

६-८-५६

फतहसिंह

भूमिका

[लेखकः]

साहित्यमहोपाध्याय–आशुकवि–कविभूषण––कविकाव्यरत्नाकर—आम्नायधुरन्धर—वेदान्तभूषण—आगमरत्न — महोपदेशक—इत्यादि–पदवीभूषितः पण्डित––**श्रीहरिशास्त्री** दाधीचो जयपुरस्थः

* श्रीः *

श्रीमन्तः पाठकमहाभागाः !

श्रीमतां सम्माननीयानामत्रभवतां **सताममृतवाग्भवाऽऽचार्य-महाभागानां "श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रम्"** नामक एको लघिष्ठोऽपि सारगरिष्ठो दिव्यभाववरिष्ठो निबन्धोऽस्माभिः सविमर्श समालोकितः । सोऽयं भव्यभावैः संभृतोऽमृतकलश इव तन्त्रशास्त्रसुधासागर इवैकत्र स्थितः श्रीविद्याया अनवद्याया हृद्यायाश्च गूढतरतत्त्वैरन्वितः शैवानामपि शेखरीभूतसिद्धान्तैरुपस्कृतः सहृदयानां साहित्यविदां च कृते मधुर-सरसोपदेशपूर्णः, अनिर्वाच्यायाः प्राच्यायाः ख्यातेश्च सचमत्कारं पोषकः, रसविदां महतां सतां च ब्रह्मविदामपि च कृते महतोऽद्वैतसिद्धान्तस्य निर्देशकरः वेदान्तव्योमनि सकलकलः सुविमलश्चन्द्र इव समुदितो भ्राजते ।

अस्मिन् हि प्रद्योततेतरां प्रकाशविमर्शयोः शिवशक्तितन्त्रमूलसिद्धान्त-तत्त्वयोरुदारतरं स्वरूपं तत्प्रभावः स्वभावश्चापि ।

परात्परस्य परमात्मतत्त्वस्य सरसः सुग्राह्यश्चात्र स्वरूपनिर्देशो विशेषेण सन्देहलेशरहितः शुद्धो ब्रह्मविद्यायाः स्वतः सिद्धायाः सर्व-समृद्धायाः संवित्समिद्धाया भगवत्या महामायायाः कामेश्वर-परशिव-परमात्मजायायाः स्वरूपेणाऽत्यनुपमेन संवलितश्चकास्तितरां सुतराम् ।

नामरूपात्मकानां शान्तघोरघोरतमानां प्रपञ्चविलासानां भावानां प्रतिभासानां प्रकारैर्निग्रहाऽनुग्रहौ कुर्वतीं स्वरसासवं पिबन्तीं च तामात्मशक्तिं चैतेन खलु शास्त्रेण सुखत एव परिचिन्वन् प्रत्यभिजानानश्च को नाम सुमनोभाऽमलमानसो मनस्वी जनो न तरिष्यति वरमपारं भवाम्बुधिम् ।

[औ]

परब्रह्मणि च स्वविलासरूपेऽप्यनुपमे भगवत्या महामायाया एव अनिर्वाच्यायाः कलाकरणकलितानां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तादिकानां सत्तासत्तोभयप्रदर्शनेन च महामहिमशालित्वमशेषजगतां मूलं च सपाटवं भगवत्या एव सालङ्कृति स्फारयति तदिदं शास्त्रम् ।

"कविं पुराणमनुशासितारम्" इतिभगवद्गीतोक्तिरूपायाः श्रुतेः स्पष्टीकरणं च परमात्मनि पुराणकवेरारोपं साधयता कविना महाभागेन सुपेशलं च प्रपञ्चे नाट्यारोपणं सालङ्कारं सरसं सावयवं च निर्व्यूढमिति बहुलं प्रमोदकरं सतां साहित्यविदां सहृदयानां भविष्यति । तथाहि—साहित्यविदः सहृदयास्तु क्वचित् अनुकार्ये रामादौ क्वापि च अनुकारके नटादौ कुत्रचन च दर्शके सामाजिकादौ चापि प्रत्याययन्ति रसम् ।

परमत्र ततोऽपि विचित्रतरश्चमत्कारोऽनिर्वाच्य एव आविर्भावित आचार्यप्रवरैर्यत् सभ्यत्वं नटत्वं रङ्गत्वं दृश्यत्वं दर्शकत्वं भोज्यत्वं भोजकत्वं चापि सर्वं प्रतिपाद्यमानतत्त्वे सन्निवेशितमतीव सहृदयहृदयाह्लादकरत्वेन समुपढौकित च विदुषां विवेकजुषां पुरस्तात् ।

तच्छक्त्या कल्पितानां पुण्यानां पापानां खलु वाव तस्यां लेशतोऽपि न स्पर्शं प्रबोधयता महाविद्यासमाराधकेन शास्त्रकारेण परमात्मनि सुतरां तल्लेशाभावं प्रकटयता महामायायाः परसंविदोऽप्यभेद एव सपाटवं प्रस्फुटीकृतः । वाङ्मयस्य च भौतिकस्येव जगतो मूलं बिन्दुरेव शिव इति प्रतिपाद्य, तस्यैव विसर्गाख्यां शक्तिमाश्रित्य पदपदार्थवाक्यप्रबन्धादिरूपेण विस्फुरणं भणता ह वै आचार्येण वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यभावत्वं विमर्शस्यैवेति जगद्ब्रह्मणोर्वाच्यवाचकत्व-लक्ष्यलक्षकत्व-व्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वमिव प्रतिपाद्यप्रतिपादकः सम्बन्ध आरोपितोऽतीव चेतःसमाल्हादकत्वेनोल्लासितः ।

विश्वं, काव्यं (दृश्यं श्रव्यं चापि) प्रतिपादयता श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रकारेण परमोदारेण अभिधालक्षणाव्यञ्जनाशक्तिद्वारेण अनिर्वाच्यानन्दस्य रसस्यानुभवोऽनुभावित इति सोऽयं प्रकारः परां संविदं मनसः सुमनसां सन्निधापयति ।

अन्यत्र दर्शनेषु सांख्यादिषु मायायाः सर्वोप्ययं प्रपञ्चविलासः स्वगुणप्रकाशितः पुरुषस्य रञ्जनायैवेति सुव्यक्तं समुक्तमपि वैदग्ध्यातिशयवता कविमौलिमणिना श्रीमताऽऽचार्येणात्र पुरुषस्य परस्य सर्वोऽपि विलास आत्मनः कलाया ललितापराम्बायाः स्वशक्तेर्ललनार्थ-(रञ्जनार्थं) मिति प्रतिपादनं किमपि सविशेषं सुमधुरतरं सरसं च व्यञ्जनं समुपस्थापयते तत्त्वविदां सहृदयानां पुरस्तात् तदेतदनिर्वचनीयमेव ।

इत्यादिनैकविधवैचित्र्यचित्रितमिद मधुरं प्रसादपूर्णं 'श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रम्' मन्वानैरस्माभिः सहृदया विद्वांस इत्थमावेद्यन्ते—

सोऽयं खलु दिव्यगन्धस्पन्दपूर्णः संवित्कलामयः कन्द इव निबन्धो विद्वद्भिस्तत्रभवद्भिः सविमर्शं श्रोतव्यः पठितव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च परमात्मतत्त्वप्रतिपादकत्वात् परमात्मतत्त्ववत् ।

तेनैतेन किल ह वै श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रेण भविष्यति क्वापि कारिकायां सुतरां सतां श्रीमतां मनसि प्रसादविस्तारः सद्भावनोल्लासश्च । कुत्रचन च विमर्शोत्कर्षोऽन्तःकरणस्य प्रहर्षश्च । कस्यांचन च कारिकायां पठ्यमानायामेव उद्वेगोपशमः सर्वेन्द्रियोपशमश्चानायासम् । क्वचन च सुव्यक्ततरः साहित्यसंपदुल्लासोऽलङ्कारप्रकाशश्च । क्वापि च कारिकायां श्रूयमाणायां नाट्यशास्त्रस्य रूपकादिदर्शनानुभवः संवित्प्रभवश्च । कुत्रापि च प्रपञ्चस्याऽनित्यत्वं, सम्विदो हि महामायायाः श्रीललिताम्बाया आत्मशक्तेरेव साम्राज्यसत्त्वं च ।

तेन हि खलु बुद्धेर्विकासः, स्मृतेश्चानुपोषणम् , शान्तेर्विस्तारः, धृतेरुदयः, ज्ञानस्याविर्भावः, अज्ञानस्यास्तमनम् , मोहस्य विलयः, अहन्ताया निबन्धः, समतायाः समृद्धिः, क्षमाया उपसर्पणम् , विवेचनस्योदञ्चनम् , विचारशक्तेः संचारः, भावनानामौज्ज्वल्यम् , कामानामप्रतिबन्धकत्वम् , रागस्यापशमः, कोपस्योपशमः, वैराग्यस्याभ्युद्गमः, सदसतोर्विवेकश्चेति ।

इत्थं बहुगुणगणालंकृतेऽस्मिन् श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे विमर्शिनीप्रकाशिनीतिनामकं टीकायुगलमपि सफलत्वमेवानुगतं लक्ष्यते । यतो

हि द्वाभ्यामपि महानुभावाभ्यामाभ्यां टीकाकृद्भ्यां श्रीबलजिन्नाथ-श्रीरघुनाथचन्द्राभिधाभ्यां विद्वत्तल्लजाभ्यां पूर्णं प्रयतमानमानसाभ्यां स्पष्टः सविस्तरः सुबोधतया सुग्राह्यतया च समासां कारिकाणामाशयः प्रकाशित इति न ह वै क्वापि सन्देहलेशः शङ्काविशेषश्च ।

कतिपयाः कारिकास्तु सुतरां सविस्तारं हृदयङ्गमाः कारयितुं प्रयतितं द्वाभ्यामपि प्रज्ञाविचक्षणाभ्याम् । तदेतेन तयोर्विद्वद्वरिष्ठयोर्बहुज्ञता सहृदयता रसज्ञता मन्त्रशास्त्रप्रवणता च प्रकाश्यते ।

तदेतयोर्यत्नेनेदं शास्त्रं शाणोल्लेखनादिसंस्कारैः प्रभोत्पादनगुणातिशयाधानादिभिर्विशेषोपयोगाय रमणीयतायामारोपितमिति स्पष्टमुद्दङ्कितुं न संकोचं कं चनापि समझ्नामः ।

तदित्थं समलंकृतेऽपि शास्त्रेऽस्मिन् श्रीश्रीविंशतिकाभिधे हिन्दीभाषायां प्रसादिनीं व्याख्यामुद्दङ्कयद्भिर्डॉक्टर-श्रीरामानन्दभारतीनन्दनाभिधैः प्रज्ञावद्भिः एष निबन्धः सर्वोऽपि सुविशदीकृतः सर्वसुगमश्च विहित इति धन्यान् तान् टीकाकारान् वदन्तो वयं श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रस्याऽस्य जगति सत्त्वरतरं बहुलं प्रचारमप्रतिहतसंचारं कामयमानाः भरतपुरनिवासिनः पण्डितमण्डनायमानान् गुणोदारान् मिश्रश्रीगोविन्दशास्त्रिणोऽतीव धन्यतमान्मन्यामहे ।

येषु श्रीमन्तस्तत्रभवन्तो महामहिमशालिनः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा दैशिकेन्द्रास्तन्त्रशास्त्रनिष्णातमानसा योगिराजा अमृतवाग्भवाचार्या महाभागाः सम्प्रसद्य एतादृशं शास्त्रं समुपदेष्टुं समवबोधयितुं च स्वयं निर्मितवन्त इति ।

सोऽयं ज्ञानयोगोऽर्जुनकृते गीतोपदेशं कुर्वतो भगवतः श्रीकृष्णस्येव मिश्रगोविन्दशास्त्रिणोऽपदेशेन लोकस्य सर्वस्यापि कृते सुव्यक्तं विवेकवैराग्यशमदमश्रद्धाभक्तियोगादिसर्वसिद्धिप्रदायको भूयादिति ।

श्रावणशुक्ला पूर्णिमा
वि० सं० २०१६
जयपुरम्

शुभाकाङ्क्षी एतच्छास्त्रगुणगणवशंवदः
श्रीहरिशास्त्री दाधीचः

* श्रीः *

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-
महामहिम—आचार्य
श्रीमदमृतवाग्भवस्य
कृतिः

श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रम् ।

—०*०—

—०***०—

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-

महामहिम—आचार्य

श्रीमदमृतवाग्भवप्रणीत

श्रीआत्मविलास

मनुष्यमात्रके लिए परम कल्याणकारी व सन्मार्ग- प्रदर्शक यह वही अद्भुत आध्यात्मिक दार्शनिक ग्रन्थरत्न है, जिसके प्रकाशित होते ही दार्शनिक जगत्में हलचल-सी मच गई और सैकड़ों प्रतियां हाथों-हाथ लग गईं। इस ग्रन्थको पढ़नेसे स्थितप्रज्ञता प्राप्त होती है, चित्त शान्त होता है। अतः यदि आप भी आत्मा क्या है? परमात्मा क्या है? ईश्वर जगदुत्पत्ति क्यों और किस प्रकार करता है? हम क्या हैं और हमें क्या करना चाहिए? दर्शन किसे कहते हैं? उनका प्रारम्भ तथा अन्त कहां होता है? उनकी उपपत्ति क्या है? आदि-आदि आध्यात्मिक गूढ़ रहस्योंसे भली भाँति परिचित हो कर आत्म-साक्षात्कार करना चाहते हैं तो इस ग्रन्थका अवश्य मनन कीजिये। आपके सभी सन्देह दूर हो कर अद्भुत आनन्द प्राप्त होगा।

मूल्य २) मार्ग व्यय ।।≈) अलग

* श्रीः *

श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रम् ।

ज्ञातृज्ञानज्ञेयभावो यदायत्तः स्फुरेदयम् ।
तामात्मशक्तिं वन्देऽहं विज्ञानां महतीं हृदि ॥१॥

स्वतन्त्रं निरपेक्षं यदमृतं ब्रह्म शाग्भवम् ।
परिपूर्णं शक्तिघनं स्वप्रकाशं तदस्म्यहम् ॥२॥

स्वयंसिद्धा भगवती ब्रह्मशक्तिरहम्महः ।
इच्छत्यवैति कुरुते निग्रहाऽनुग्रहात्मिका ॥३॥

शान्तैर्घोरैर्घोरतमैः स्वं रूपैर्नामभिश्च या ।
निगृह्णात्यनुगृह्णाति पिबन्ती स्वरसाऽऽसवम् ॥४॥

सृजन्त्यवन्त्यदतीयमात्मनाऽऽत्मानमात्मनि ।
नित्यं समरसाऽऽनन्दा महाऽनुभवमश्नुते ॥५॥

कल्पितं पुण्यपापादि नैव स्पृशति जात्वपि ।
निर्लेपं सर्वगमपि करकादि वियद्यथा ॥६॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानि केवले नित्य आत्मनि ।
स्वकलाकल्पितानीति विलसन्त्यपि सन्ति नो ॥७॥

विद्यमाने जगति को लाभो नष्टे च का क्षतिः ।
वन्ध्यासुते जीवति नो लाभो हानिश्च नो मृते ॥८॥

अवद्यमनवद्यं वा कर्म किं साधयेदसत् ।
शशशृङ्गं धनुर्यद्वद्दृढं दृढमेव वा ॥९॥

स्फुरन्तु मा वा स्फुरन्तु विश्वान्यात्मनि किं ततः ।
आनन्दघनमद्वैतं चकास्त्येव महन्महः ॥१०॥

कुर्वञ्ज्ञानँस्तथैवेच्छन्यदात्मानमपह्नुते ।
सोऽपह्नवोऽप्यलङ्कारः स्वरसे माद्यतः कवेः ॥११॥

स्वप्रकाशं विमृश्याऽयं स्वविमर्शं प्रकाश्य च ।
विश्वानि कवयँस्तेषु रमते हि रसात्मना ॥१२॥

सभ्यो नटो विभावादिभावा रङ्गः स्वयं भवन् ।
स्वचरित्राऽनुकारेण स्वमेव भजते रसम् ॥१३॥

रेखा बिन्दुं लिपी रेखां पदानि लिपिमन्तरा ।
वाक्यं पदानि ग्रन्थोऽपि वाक्यानि न हि विद्यते ॥१४॥

अचिन्त्यया विसर्गाख्यनिजशक्त्या स्वरूपया ।
बिन्दुरेव शिवो भाति समस्तं वाङ्मयं सदा ॥१५॥

वाच्यवाचकसम्बन्धाल्लक्ष्यलक्षकयोगतः ।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावाच्च महार्थः प्रस्फुरेच्छिवः ॥१६॥

वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यभावविमर्शपरवान् भवन् ।
सच्चिदानन्दस्वरूपः शिव एव प्रकाशते ॥१७॥

स्फुरन् क्रमेणाऽक्रमेण विक्रमेण च सन्ततम् ।
स्वस्मिन्नेवोरुक्रमोऽयं क्रमते रमतेऽपि च ॥१८॥

स्वरसाममृतां बिन्दुविसर्गाढ्यां परः शिवः ।
लालयँल्ललते नित्यं ललितामात्मनः कलाम् ॥१९॥

विमृश्यैवमशेषेण स्वानन्दरससम्भृतः ।
निःसङ्गो निर्ममः शान्तो मुनिर्यादृच्छिको भवेत् ॥२०॥

वैराग्यवन्मनुजसेव्यमिदं सदैव
हृद्यार्थचतुरं सुमनःशरण्यम् ।
नाऽतः परं किमपि शास्त्रमशेषशोक-
पाथोऽधिशोषकरणेन शिवाऽनलः स्यात् ॥२१॥

विक्रमतो जननर(८००२) मित -
वर्षेऽष्टम्यां सिते कवौ नभसि ।
श्रीविंशतिकां निरमा -
च्छ्रीमदमृतवाग्भवाचार्यः ॥२२॥

अत्रिगोत्रसमुद्भूतमिश्रगोविन्दशर्मणः ।
बोधार्थं निर्मितं शास्त्रमेतज्जानन्तु पण्डिताः ॥२३॥

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र
महामहिम—आचार्य
श्रीमदमृतवाग्भवस्य
कृतिः
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रम् ।

—०****०—

समाप्तमिदं
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रम् ।

—०****०—

श्रीः

श्रीविमर्शिनी प्रसन्नपदा

प्रणेता

श्रीबलजिन्नाथ पण्डित

शास्त्री, एम. ए. एम. ओ. एल.

श्रीप्रकाशिनी प्रसन्नार्था

प्रणेता

श्रीरघुनाथचन्द्र वासिष्ठ

शास्त्री, साहित्यरत्न, आयुर्वेदरत्न, एम. ए.

श्रीप्रसादिनी (हिन्दी)

प्रणेता

श्रीरामानन्द तिवारी (भारतीनन्दन)

शास्त्री, एम., ए. पी. एच. डी.

परिशिष्टम् (१/२)

कारिकाणामकारादिसूची

अचिन्त्ययाविसर्गाख्य	८६	विमृश्यैवम्	१०६
अत्रिगोत्रसमद्भूत	११५	वैराग्यवन्मनुज	११०
अवद्यमनवद्यं वा	६३	शान्तैर्धीरैः	४७
कल्पितं पुण्यपापादि	२५	सभ्यो नटो	८०
कुर्वञ्ज्ञानंस्तथैव	७०	सृजन्त्यवन्त्य	५१
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानि	५७	स्फुरन् क्रमेण	६७
ज्ञातृज्ञानज्ञेयभावः	१४	स्फुरन्तु मा वा	६७
रेखा बिन्दुलिपी	८४	स्वतन्त्रं निरपेक्षं	२५
वाच्यलक्ष्यव्यंङ्ग्य	६६	स्वप्रकाशं विमृश्य	७६
वाच्यवाचकसम्बन्धात्	६०	स्वयंसिद्धा	३२
विक्रमतो जननरमित	११३	स्वरसाममृतां	१०२
विद्यमाने जगति	६१		

—०***०—

टीकोल्लिखितानां ग्रन्थकर्तृणां नाम्नां सूची

अभिनवगुप्तः	२६,४८,६४,७२,६२-१००,१०७	धर्माचार्यः	३५
आचार्यपादाः	२१,३०,६७,१०१	पाणिनिः	३१
उत्पलदेवः	१०,२२,४६,१००	भट्टनारायणः	११
कालिदासः	८६	भर्तृहरिः	२८,६६,८६
कुलशेखरः (पुष्पदन्त)	१२,४६	व्यासः	२२
गौडपादाः	४२,४३	शङ्कराचार्यः	३५
दर्पणकारः	६४	श्रीभगवान्	५६

* श्रीः *

विमर्शिनी प्रसन्नपदा

स्वमायोल्लासमात्रेण कल्पितां जीवतां स्वयम् ।
विलापयञ्जयत्येष शिवः सच्छास्त्रविग्रहः ॥

यथा खलु वैद्यकशास्त्रं चतुर्व्यूहम्, तद्यथा-रोगो रोगहेतुरारोग्यं भेषजमिति तथैव मोक्षशास्त्रमपि । अत्र हि जननमरणरूपः संसारस्तदन्तर्भावि च तापत्रयादि सर्वं रोग इति मन्तव्यः । स्वस्वरूपापरिज्ञानमेवाऽत्र रोगहेतुः । आरोग्यं पुनः संसारान्मुक्तिः । भैषज्यं च मोक्षोपायसाधनमिति सामान्यतोऽङ्गीकृतं मोक्षशास्त्रकृद्भिः । परं को नामासौ मोक्षः कीदृशी चावस्था तदवाप्तौ जायते जीवस्य इत्यत्र विषये किन्नाम च संसारहेतुभूतस्य स्वरूपापरिज्ञानस्य कारणमित्यत्र विषये च शास्त्रकृतां नैकं मतम् । मोक्षोपायविषये चापि सर्वथा नैकमत्यम् । शास्त्रकृतो हि भिन्नभिन्न प्रकारान् मोक्षोपायानुपदिशन्ति । मोक्षश्च ज्ञानसन्तानशरीरसन्तानोच्छेदे संसारापगमरूपं शून्यदशावाप्तिमयं स्वसत्तोच्छेदात्मकं शून्यत्वमित्युपदिशन्ति बौद्धाः । काणादाश्च जीवात्मनो विशेषगुणराहित्यरूपं शुद्धसत्तात्मकत्वम् । सांख्याः पुनः साक्षित्वव्यपगमरूपं चितिमात्रत्वम् । वेदान्तिनश्च प्रायश ईश्वरभावाज्जीवभावाच्चातीतं नेतिनेतीतिविमर्शगम्यं शुद्धप्रकाशरूपत्वं मुक्तत्वमित्युपदिशन्तः शून्यप्रायमेव किमपि महाशून्यप्रायं वा तत्त्वं मोक्षत्वेन मन्यमानाः सर्वेऽप्येते दरीदृश्यन्ते । सर्वं चैतदधिकारिभेददृशोपपद्यमानं युक्तियुक्तत्वं भजते । संसारहेतुं प्रायशः सर्वेऽपि शास्त्रकृतोऽज्ञानमेव मन्यन्ते । परमिदमज्ञानं कुत आयातमिति प्रश्नेऽनादित्वमज्ञानस्य वदन्तोऽज्ञानहेतुं स्वरूपतो व्याख्यातुमशन्कुवन्त इव प्रतीयन्ते । सर्वं चैतद् भिन्नभिन्नसंप्रदायवतां मतजातम् । परं सन्त्यपरे मतभेदोत्तीर्णा अपि सिद्धजनाः । ते तु पुष्पेभ्यः सुगन्धमिव सर्वेभ्यः संप्रदायमतेभ्यः सारमादाय

सकल-संप्रदायोत्तीर्णतया मोक्षमुपदिशन्तो विलसन्ति । तेषां मोक्षोपदेश-प्रकारश्च संक्षेपत इत्थम्—परमेश्वर एव शुद्धप्रकाशविमर्शरूपः सन्, प्रकाशजीवितभूतस्य, स्पन्दाख्योच्छलत्तारूपस्य स्वविमर्शस्य महिम्ना वैश्वरूप्येणाभाति । एवमाभासमानोऽपि स्वरूपान्न च्यवते । एतदेव ह्यस्य परमेश्वरत्वम् । ततः परमेश्वरत्वमहिम्ना अविकल्पपरिपूर्णाहंप्रकाश-विमर्शरूपः सन्नप्यसौ स्वात्मन्यहंरूपतयैव विद्यमानं विश्वं स्वमहिम्नैवेदं-रूपतयावभासयति, स्वयमेकरूपः सन्नप्यनेकरूपतया भासते, अविकल्परूपः सन्नपि विकल्पकल्पित इव भाति, वेद्यदशास्पर्शमप्यसहिष्णुः सन् वेद्यरूप-त्वेनावभासते । विश्वमात्मनः पृथक्तया प्रकटयन् सृष्टिकर्तृत्वं भजते । भावजातं कञ्चित् कालं स्थिरमवस्थापयन् स्थितिकर्तृत्वं प्रख्यापयत्यात्मनः । सर्वमपि स्वात्मनि पुनः संहरन् संहारकर्तृत्वं प्रथयति स्वात्मनः । संसारे चास्मिन् शुद्धप्रकाशविमर्शरूपत्वमात्मनो गूहयन् शरीरादावेवाहमित्यभि-मन्यमानस्तिरोधानापरपर्यायं पिधानकृत्यं करोति । शास्त्ररूपेण गुरुरूपेण चाविर्भूय स्वात्मरूपान् शरीराद्यभिमानिनो जीवान् पुनः स्वकीयशुद्धसं-विद्रूपं प्रत्युन्मुखयन् क्रमशश्च तान् स्वरूपप्रत्यभिज्ञानभूमिकामारोपयन्ननु-ग्रहकारितामात्मनः प्रकटयति, इत्येवं सृष्टिस्थितिसंहारपिधानानुग्रहरूपं कृत्यपञ्चकं करोति । कस्मादेवं करोति, किमिति न स्वात्ममात्ररूपतायां तिष्ठतीति प्रश्नस्य नास्त्यवकाशः । यतः स्वभावादेव परमेश्वरः पञ्चविध-कृत्यकारी । न च स्वभावविषये पर्यनुयोगो न्याय्यः । अग्निः किमित्युष्णः दाहप्रकाशादिकारीति प्रश्ने किमुत्तरं स्यात्—स्वभाव एवायमग्नेरित्येव नान्यत् । एवमेव स्वभाव एवायं परमेश्वरस्य यत् सततमात्मान-मेवासंख्यैः रूपैः सृजति स्थापयति संहरति गूहयति प्रत्यभिज्ञापयति च । स्तुतं चैवं श्रीमदुत्पलदेवपादैः—

सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासिने ।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय स्वामिने नमः ॥ (शि० स्तो०)

तथैवात्र संसारवैचित्र्योल्लासनसंहरणक्रीडायां परमेश्वरस्य कवित्वमिव कल्पयितृत्वं प्रधानम् । अत एव श्रीमद्भगवद्गीतास्वष्टमेऽध्याये—

श्रीमद्भट्टनारायणैश्च स्तवचिन्तामणौ—

नमस्ते भवसम्भ्रान्तभ्रान्तिमुद्भाव्य भिन्दते ।
ज्ञानानन्दं च निर्द्वन्द्वं देव! वृत्वा विवृण्वते ॥(श्लो० ७१)

एतत् पञ्चविधकृत्यकारित्वमेव परमेश्वरस्य परमेश्वरत्वं, नभस्तुल्यशून्यतत्त्ववैलक्षण्यम् । अन्यथा हि शून्यवज्जडत्वमापद्येतास्य । न चैतत् सम्भवि यतोऽजडोऽसौ, चैतन्यमात्रस्वरूपः । एतदेव हि तस्य चैतन्यं यत् स्वचैतन्यरसातिशयेन घूर्णमानो विश्ववैचित्र्यमवभासयन्नेवास्ते ।

तदित्थं सिद्धजनोपदेशानुसारं परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्यमेव सृष्ट्यादिशक्तिचक्रोल्लासनक्रमेण वस्तुतः संसारस्य संसारमूलभूतस्याज्ञानस्य च हेतुः । स्वात्ममहेश्वरभावप्रत्यभिज्ञानमेव मुक्तिः । प्रत्यभिज्ञातस्वस्वरूपो हि योगी शरीरवान् परमेश्वर एव, नासौ संसारी । यतो हि न बद्धः सन्नसौ संसारयात्रां विधत्ते । अपितु श्रीमद्भगवद्गीतास्वैकादशाध्यायोक्तनयेन सर्वं स्वविलासं मन्यमानः स्वविलासेनैव परमेश्वरवत् संसारयात्रां करोति । यावत् प्रारब्धवशाद् भौतिकं शरीरं तस्य तिष्ठति । पतिते च स्थूलशरीरे चेत् कारुणिकत्वं तस्य योगिन उद्रिच्येत तर्हि दिव्यशरीरभाग् भैरवरूपत्वेन संसारेऽधिकारिणां पथप्रदर्शनं कुर्वाणः संस्कारशेषायाः प्राक्तनबन्धदशायाः तत्काले जृम्भमाणया स्वशक्त्युल्लासरूपया मोक्षदशया तुलनां कदाचिद् विदधानः स्वरसे माद्यँस्तिष्ठति । चेत् कृतकृत्यताभाव एव तस्योद्रिच्येत तर्हि परमेश्वर एवैकधनः सञ्जायत इवेत्यशरीरमुक्तिरियम् । तदित्थं बन्धमोक्षवैचित्र्यं परमेश्वरस्य कल्पनामात्रं लीलामात्रं वेति । तथा चोपदिष्टं वेदान्तेष्वपि— "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्"इति सूत्रे तद्भाष्ये च । कविरिव हि परमेश्वरो विश्वं कल्पयति । यथा खलु—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
'कविं पुराणमनुशासितारम्' (भ० गी० ८/९) इति

विशेषणैरुपवर्णितः परमेश्वरः । तदत्र विश्ववैचित्र्यक्रीड़ायां

परमेश्वरः स्वयमेव नायकादितया, नटादितया रङ्गभूमिप्रभृतितया चावभासमानः कमपि रसं रसयञ्जयतीति । तथा च शिवसूत्रम्—

"नर्तक आत्मा" (शि० सू० ३/६) इति

सिद्धागमानुसारं मोक्षो न किमपि प्राप्यं वस्तु । स्वभावत एव हि प्राप्तमेव तत् सर्वस्य । यतः सर्वोऽपि वस्तुतः शुद्धसंविद्रूप एव सदा मुक्तस्वभावः । केवलं स्वकल्पितमेव स्वरूपाख्यातिमयं मलमपनेयम् । प्रक्षालिते च मले स्वरूपं स्वेनैव प्रकाशेनावभासमानं सत् तथाभिमन्यते । स्वकल्पितमेवाज्ञानरूपं मलं स्वरूपावरणत्वेन स्थितं तां स्वरूपप्रख्यातिं निरुन्धन्निव स्वविलासादेव भासते ततः स्वस्वरूपाख्यातौ निरोधकाभिमतस्य मलस्य प्रक्षालनमेव विधेयम् । तदर्थमुपायजालमुपदिष्टम् । न च सिद्धजना उपायानां विषये कामपीयतामुपदिशन्ति । इत्थं मलिनत्वाभिमान एव बन्धः पूर्णनैर्मल्याभिमान एव च मुक्तिरिति संक्षेपः । यस्य जनस्य येनोपायेनाज्ञानावरणशिथिलीभावः शक्यक्रियः तस्य स एवोपायः श्रेष्ठ इति हि सिद्धानां मतम् । यत्स्तुतं श्रीकुलशेखरेण—

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव । (शि० म०)

ततो वैदिकादयः सर्वेऽप्युपायाः अभिमता एव सिद्धानाम् । रहस्यशास्त्रेषु प्रसिद्धवैदिकाद्युपायव्यतिरेकेण केचन रहस्यमयाः सुखसाधना उपाया अप्युपदिष्टाः । ते च समावेशभावनाकरणादयः । परं तेऽत्यन्तरहस्यभूता गुरूपदेशगम्या एवेति न स्फुटं प्रतिपाद्यन्ते, निर्देशमात्रं तेषां क्रियते शास्त्रेषु येन दीक्षितानां प्रबुद्धानां कोऽप्युपकारः स्यात् ।

इत्येवंप्रायाणि सिद्धजनसम्मतानि मोक्षशास्त्ररहस्यानि जिज्ञासुभ्योऽधिकारिभ्यः प्रतिपादयितुं मिश्रगोविन्दाख्यनिजप्रियजनकरुणाद्रवीभूतहृदया आचार्य्यमहोदयाः संक्षेपेण विंशतिपद्यात्मकमिदं विंशतिकाशास्त्रं निर्मितवन्तः । एतच्छास्त्रपरामर्शेन मिश्रगोविन्दशर्मणोऽन्यस्यापि च यस्य कस्याप्यधिकारिणोऽज्ञानग्रन्थिभेदनेन स्वरूपख्यातिर्भवेदित्यभिप्रायो ग्रन्थकर्तुः । तदित्थमत्र शास्त्रे परमेश्वरस्तदीयबन्धमोक्ष-

क्रीडाप्रपञ्चो मोक्षोपायाश्च विषयः, अधिकारिणां विषये प्रतिपत्तिः प्रयोजनम्, विषये च प्रतिपत्त्या तेषां स्वरूपप्रत्यभिज्ञानपुरःसरं पारमार्थिकमोक्षदशाख्यातिश्चापि प्रयोजनमेव । यः कश्चिद् वैराग्यवान् मुमुक्षुर्जनः सोऽत्राधिकारी । नात्र वर्णाश्रमलिङ्गवयःप्रभृति किमप्यधिकारित्वप्रयोजकं तन्निरोधकं वा । मोहापसारपुरःसरमुपकार्योपकारकभावः शास्त्राधिकारिणोः सम्बन्ध इत्युपोद्घातोऽयम् ।

अथ शास्त्रव्याख्यानमारभ्यते—तत्रादौ समुचितेष्टदेवतानमस्कारं मङ्गलव्याजेन कुर्वन्तः शास्त्ररहस्यमपि चाभिव्यञ्जयन्त आहुः—

॥ श्रीः ॥

प्रसन्नार्था प्रकाशिनी

हृद्याहृद्यासुहृद्या पुनरपि च सदा यातिहृद्यातिहृद्या
विद्याविद्यास्वविद्या स्फुरति किल तथा याऽतिविद्याऽऽत्मविद्या।
याऽहंभात्रात्रिभात्रा त्रिलमति सततं याऽतिभावाऽसुभावा
शैवी सा चित्कला मा प्रतिपलमवतात्स्वप्रकाशा सुतं माम् ॥१॥
सुश्रीविंशतिकाशास्त्रे प्रतिमात्रं विराजिताम्।
स्वविमर्शप्रकाशां मां भजतां मे प्रकाशिनी ॥२॥

अथ मङ्गलवपुराचार्यः सर्गस्याऽस्य मङ्गलकामनया लोकसंग्रहमभिलक्ष्य शास्त्रस्याऽस्य प्रारम्भे निगूढं सुसिद्धमात्मतत्त्वं शक्तिरूपं वन्दनात्मकमङ्गलाचरणेन सुतरां सरलया परं भावगम्भीरया विधया विवृणोति:—

ज्ञातृज्ञानज्ञेयभावो यदायत्तः स्फुरेदयम्।
तामात्मशक्तिं वन्देऽहं विज्ञानां महतीं हृदि ॥१॥

[वि०] अहं शास्त्रकृत्। हृदि=आत्मनो हृदये, तां विज्ञानां=विज्ञानस्वरूपाम्, महतीम्=अपरिमिताम्, आत्मनः शक्तिं वन्दे, यदायत्तः=यत्र परवशः, सन्, यत्र विश्रान्तिमासाद्यायं लोकव्यवहाररूपो ज्ञातृज्ञानज्ञेयभावः स्फुरेत्-सत्त्वेनाऽऽभासितुं शक्नुयात्। शक्यार्थेऽत्र लिङ्। इति हि संक्षेपेण श्लोकस्यार्थः।

लोकव्यवहारो हि सर्वोऽप्याभासमानताप्राणः, आभासमानैरेव भावजातैः सकलाऽर्थक्रियाजननात्। घटादिकं चेज्ज्ञायमानं तदाव्यव-

हारयोग्यं भवति । अथ ज्ञानविषयतां चेन्नापद्यते तदा किं तेन । तस्य सत्तापि ज्ञानाधीनैव । ज्ञातश्चेत्तर्ह्यस्ति । न चेज्ज्ञातस्तर्ह्यस्ति वा नास्ति वेति को निर्णयं विदध्यात् ? तस्मादाभासमानतासारोऽनन्तप्रकारकसम्बन्धमय एव सकलोऽपि लोकव्यवहारः । इत्थमनेकेषु च सम्बन्धेषु सत्स्वपि ज्ञातृज्ञानज्ञेयभाव एवात्र प्रधानमिति तन्मुखेनैवोल्लेखः कृतः । परमार्थदृष्ट्या तु सर्वमपि प्रकाशविमर्शसमरसाकारसंविन्मात्ररूपमेकमद्वयम्, इति को ज्ञाता किं ज्ञानं किञ्च ज्ञेयम् ? सत्यं, किन्तु संविदेव भगवती चमत्कारात्मकविमर्शमाहात्म्येनाऽद्वैतरूपिणी सत्यपि द्वैतरूपेणाऽवभासते इति प्रोक्तं प्राक् । ततः शुद्धसंवित्स्वरूप एव परमेश्वरोऽभेदेन स्वात्मनि वर्तमानमहंरूपतया प्रकाशमानमिदन्तास्पर्शरहितमपि भावजातं विमर्शशक्तिबलेन यदा स्वात्मसामानाधिकरण्येनैवोन्मिषन्मात्रेदन्तोपरक्तं भासयति, तदा 'अहमिदम्' इत्यभिमानेन भेदाऽभेददशावतरणाऽवभासः, यदा पुनस्तदेव भावजातं स्फुटयेदन्तयोपरञ्जयन्नवभासयति तदा भेददशाऽवभासः । अत्र हि भेददशामवतीर्ण इव भासमानः परमेश्वरः स्वमाययैव देहप्राणबुद्धिशून्येष्वहमित्यभिमन्यमानो घटादिकमिदन्तयाऽवमृशति । तदसौ प्रमात्रीकृतदेहाद्यभिमानी ज्ञातेति व्यवह्रियते । प्रमेयीकृतश्चघटादि ज्ञेयमिति, ज्ञातृविश्रान्ता ज्ञेयनिष्ठा चाऽवभासनक्रिया ज्ञानमिति व्यवह्रियते । सोऽयं परिमितप्रमातृतासारो ज्ञातृज्ञानज्ञेयभावः परमेश्वरस्य शक्तेरेव माहात्म्येन स्फुरति । व्यवहारदशायां सत्यत्वेनावभासमानो निजमोजो विजृम्भयति, येन विश्वे व्यवहाराः कृतकराऽवलम्बनाः सम्पद्यन्ते । चेत् परमेश्वरस्य सा शक्तिर्नाभविष्यत् तदा ज्ञात्रादिभावोऽपि नाभविष्यत् । तदित्थं तस्यां सत्यामेवाऽस्य सत्तेति तदायत्तः, तत्र विश्रान्तः सन्नेवायं स्फुरति । सा च पारमेश्वरी शक्तिर्न परकीया काचन, अपित्वात्मनः स्वस्यैव सा शक्तिः । ज्ञाने क्रियायां च स्वतन्त्रः स्वस्यात्मैव सर्वस्य जीवजातस्य वस्तुतः परमेश्वरः । नान्योऽसौ कश्चन । केवलं स्वकल्पितैर्मलैर्मलिनीकृत इव सन् तथाविधेन रूपेण नाभिमन्यते । ततः परिमितत्वेन भिन्नत्वेन चाऽभिमन्य-

मानः 'जीव'इति व्यवह्रियते । परं यदा मलक्षालनपुरःसरं स्वरूपं प्रत्यभिजानाति तदा सुप्तप्रबुद्ध इव स्वात्मानं परमेश्वरं मन्यत एव । ततो वस्तुतः परमेश्वर एवाऽसौ । जीवभावस्त्वस्य स्वमायाशक्त्युत्थापिताऽज्ञानमूलत्वाद् भ्रमरूप एवेति प्रत्यभिज्ञाते स्वस्वरूपे शुक्तिकाज्ञानोदय इव रजतज्ञानं स्वयं निवर्त्तते । तद्युक्तमेवोक्तमात्मशक्तिमिति ।

वेदान्तेषु हि नेतिनेतिविमर्शेन विश्वोत्तीर्णतयोपदिष्टं परमेश्वराख्यं ब्रह्मतत्त्वम् । किञ्च तत्रैव "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति विश्वमयमपि तत् प्रतिपादितम् । किन्त्वत्र न्याय्यम् ? उभयमपि न्याय्यमिति ब्रूमः । परमेश्वरो हि विश्वमयत्वेन, विश्वोत्तीर्णत्वेन तदुभयरूपत्वेन, अनुभयरूपत्वेनाऽपि च प्रकाशते । विश्वमयत्वेन तस्याऽविश्वोत्तीर्णत्वं, विश्वोत्तीर्णत्वेन चाऽविश्वमयत्वमित्येतदनुभयरूपत्वम् । साक्षात्कारस्तु तस्य विश्वमयत्वेनापि विश्वोत्तीर्णत्वेनापि च सम्भवति । इत्येवमेतद्रूपद्वयं तस्य मुख्यम् । विश्वोत्तीर्णत्वेन शुद्धप्रकाशरूपत्वेन चकास्ति । इदन्तया मन्यमानस्य भावजातस्य तत्र नामाऽपि नाऽस्ति । केवलं शुद्धं संविन्मात्रमविकल्पं, स्वात्मप्रकाशरूपं 'अहम्' इति हि तत् । भावजातं हि गन्धर्वनगरवन्मायामूलत्वेन भ्रान्तिरूपतया निर्मूलतामसत्तां चापादितं तत्र विश्वोत्तीर्णतायाम् । परं यदिदं विश्वं भासते तदपि परमेश्वरशक्तिमहिम्नैवेति प्रोक्तम् । ततः स्वशक्तिवशात् विश्वरूपतया भासनशक्तिर्या परमेश्वरस्याऽनपह्नवनीया तद्वशाद् विश्वमयत्वमपि तस्यैव । वटबीजं हि बीजमेव । न तत्र वृक्षस्य नामापि । इत्येवं वृक्षरूपादुत्तीर्णं तत् । परं वृक्षोऽपि बीजरूपतया तत्र वर्त्तत एव । अन्यथा कथं क्षित्यादिसंयोगवशात्तत आविर्भवेत् ? तद्वृक्षाऽवभासनसामर्थ्याद्वृक्षमयं बीजमित्यप्यङ्गीकार्यम् । एवमेव परमेश्वरोऽप्युभयरूपतया सिद्धजनैः साक्षात्क्रियते । तत्र विश्वोत्तीर्णरूपत्वेन तस्य यः साक्षात्कारोऽसावेव 'ज्ञानम्' इति, या च तस्य विश्वमयत्वेन साक्षात्कृतिरसौ पुनः 'विज्ञानम्' इति व्यवह्रियते । ज्ञानेन तु साक्षात्क्रियमाणः परमेश्वरः शिवः विज्ञानेन च साक्षात्क्रियमाणः

शक्तिः । शिवशक्तिसमरसाकारत्वं परमेश्वरस्य स्वरूपम् । तदियमात्मशक्तिरेवैवं विज्ञानरूपिणी । तत एव "विज्ञानाम्" इति नामोल्लेखपूर्वं नमस्कृताऽऽचार्यवर्य्यैः । शक्तिश्चाऽसौ नेयत्तावच्छिन्ना, सर्वथा सर्वतश्चासावपरिमिता । यथा परमेश्वरोऽपरिमितः तथैव तच्छक्तिरपि । परमेश्वर एव वस्तुतस्तच्छक्तिर्न हि तयोः कश्चन भेदः । शिवस्य शिवत्वं तु शक्तिरेव नान्यत् । शक्तेश्चापि शक्तित्वं शिव एव नान्यत् । इत्येवं परमेश्वररूपिणी महाशक्तिरेवाऽत्र नुताऽऽचार्य्यवर्य्यैः । नमस्कारोऽपि न कायिकोऽपि तु हृदीति निर्देशाद्, अभेदपरामर्शेन पुर्यष्टकस्य महाशक्तिसत्तायां निमज्जनमत्र वन्दनशब्दस्यार्थः ।

अथवाऽपरोऽयं व्याख्यानप्रकारः—य एव विज्ञाः=प्रबुद्धा भवन्ति तैरेवायं ज्ञातृज्ञेयभावादिविश्ववैचित्र्यमयो व्यवहार आत्मशक्तिविश्रान्ततया संवेद्यते । मूढास्तु देहभूमावेव वर्त्तमाना देहविश्रान्ततयैव व्यवहारस्य सन्तोषंभजन्ते । विचारयुक्ताश्चान्तःकरणमेव सकलव्यवहारविश्रान्तिस्थानं मन्यन्ते । ततोऽपि विवेकिनः प्राणभुवमेवाऽशेषवेद्यशून्यतारूपां शून्यभुवं वा पर्यन्तविश्रान्तिपदमङ्गीकुर्वन्तीत्येवमुत्तरोत्तरमारोहतां विवेकिनां सुप्रबुद्धताप्राप्तावात्मशक्तिरेव सकलभावजातादिविश्रान्तिभूरिति संवेदनं भवति । तदित्थं विज्ञानां=सुप्रबुद्धानां योगिनां हृदि=बुद्धिदर्पणे, यदायत्तः=यत्र विश्रान्तोऽयं लोकव्यवहाररूपो ज्ञातृज्ञानज्ञेयभावः स्फुरेत्=अवभासेत विमृश्येत वा तां महतीमसंकुचितामात्मशक्तिं पूर्वोक्तप्रकारां संविद्देवीमहं वन्दे इति संक्षेपतोऽर्थः ।

इतरोऽप्यत्र व्याख्याप्रकारः । स चेत्थम् उपदेशविषये, शास्त्रकरणविषये वा, एवमादौ वा सर्वस्मिन् कार्यकलापे ज्ञातृज्ञानज्ञेयभाव एव प्रधानतयोपयुज्यते । स च मुख्यतयान्तःकरणदर्पण एव स्फुरन् संवेद्यते सर्वैः । ततस्तामेव शास्त्रकरणेऽप्युपयोगिनीं महत्तत्त्वाख्यां विज्ञानां=विज्ञानरूपां बुद्धिमहं हृदि वन्दे । परं नाऽसौ सांख्यानामिव मूलप्रकृतिविकाररूपा परमेश्वरनिरपेक्षतयैव सृष्ट्यादिकारिणी सम्मताऽस्माकम्, अपि त्वात्मनः शक्तिरूपैवाऽसौ, अनन्तशक्तिपरिपूर्णस्य परमेश्वरस्यैव शक्तिविशेषरूपैव बुद्धिरिति ॥१॥

ी यदायत्तो यदधीनो
ाऽ्यत इति भावः।
स्तामेव जीवमात्र-

ोषोऽयं विश्वाऽपर-
च आत्मसत्ताऽपि
वस्य वा प्रतीत्या
प्रत्येत्येव; सुषुप्तौ
सत्ता नापलपितुं
प्सम्' इतिप्रतीति
थायां वाणीद्वारेण
अस्तु।

ानं च न कदाप्य
स्तत्कर्त्तुरपि सत्ता-
कान्तमसम्भवात्।
'अहं जानामि'
ैकवचनस्य कर्त्तुः
ोधकप्रत्ययसंयोगेन
ेशस्तस्य कर्त्तुरपि
थतिः सुनिश्चितैव।
त्र मत्कर्तृकं ज्ञानं
। 'किंविषयकं तद्
कं भवति। ज्ञानं
सर्वस्मिन्नपि ज्ञाने
यं च इति। यद्यपि
ति'प्रमाण'पदबोध्यं

चतुर्थं तत्राऽऽयतति; परं तस्य गौणत्वेन न ग्रहणम् । अथवा ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम् इति तस्याऽपि उक्ते ज्ञानपद एवान्तर्भावः । एष एव प्रतिज्ञाननियतो ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय भावः ।

एष च ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयभावः परस्परं सापेक्षः । तथाहि-ज्ञाता ज्ञानं विना न सिध्यति; यस्य नाम ज्ञानं स एव ज्ञाता; असति हि ज्ञाने को नाम ज्ञाता ?

ज्ञेयमपि ज्ञानं विना न तिष्ठति; ज्ञानविषयीभूतं हि ज्ञेयम्, यदा पुनः ज्ञानमेव नास्ति तदा केन नाम ज्ञेयं विषयी क्रियेत ? ज्ञानविषयित्वं विना च ज्ञेयत्वं कुतः ।

ज्ञानमपि ताभ्यां विना न तिष्ठेत्; ज्ञातारं विना कस्य ज्ञानम् ? किन्नाम अकर्तृकं ज्ञानम् ? गुणरूपस्य तस्य अधिष्ठानाऽपेक्षित्वं, क्रियात्वेन च कर्तृमुखापेक्षित्वम् । उभयथापि ज्ञातृसापेक्षत्वं ज्ञानस्य सुसिद्धमेव । तथैव न ज्ञानस्य निर्विषयत्वमपि कस्यचिद् बोधस्य विषयः तर्कसम्मतश्च । अतस्तद्विषयस्य ज्ञेयस्याऽपेक्षाऽपि सुनिश्चितैव । इत्थं सुविचारणयैषां प्रत्येकं परस्परसापेक्षता स्पष्टा भवति ।

सति च तथैषां पूर्वापरभावो न सिध्यति । तेन कार्यकारणभावोऽपि न सङ्गच्छते । इत्थमिदमनाद्यनन्तमलातचक्रमिवाऽविद्यमानमेव किमपि समवभासते । विरहितकार्यकारणभावस्य न हि कस्य चित्पदार्थस्य सत्ता स्वीकर्त्तुमुचिता । अत एव कार्यकारणभावविरोधी पूर्वापरभावविरहो ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय-भावानां स्फुरणस्य सम्भावनामेव द्योतयति । न तु स्फुरणं वस्तुतोऽस्तीति मतिं स्पृशति । उद्घोषितमिदं हि सर्वैर्मनीषिभिः 'अन्योन्याश्रयाणि कार्याणि न सिध्यन्ति' इति । एषोऽपि तथाभूतो ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय-भावः सिद्धिविरहित एव ।

जागतिके व्यवहारेऽपि पश्यामो वयं पितृपुत्रयोः परस्पराऽपे-

त्रित्वम्; 'पिता हि पुत्रं जनयति, सोऽस्य जनकः कारणं वा' इति स्फुटो व्यवहारः। परं किमिदं तथ्यमपलपितुं शक्यते केनापि विचारजुषा यत् पुत्रोत्पत्त्यैव पितृपदविशेष्यायां व्यक्तौ पितृत्वस्य समुत्पत्तिः, इत्थं पुत्र एव पितुर्जनकः; यतः पुत्रं विना जनकत्वं न सिध्यति। अत एव तु 'न कोऽपि कस्यचिज्जनकः, न च कश्चित् कस्यचित्पुत्रो जनितो वा इत्यस्त्यन्तर्दृष्टिमतां शास्त्राणां राद्धान्तः।

अत एव स 'स्फुरेत्' इति काका न 'स्फुरेत्' इत्याचार्यस्याभिप्रायविषयः। अपि वाऽत्र लिङः प्रयोगस्तस्य स्फुरणस्य सम्भावनामात्रं सङ्केतयति।

तस्य ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयभावस्य सम्भावनामात्रमपि स्फुरणं न स्वतन्त्रम्। अत एवाऽऽचार्यस्तस्य स्वातन्त्र्यनिषेधं 'यदायत्त' इति स्फोटयन् तदाश्रयस्य प्रभोः प्रसिद्धपरामर्शं कृतवान् 'तामात्म'इति।

'यस्याः शक्तेरधीनोऽयं ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयभावः स्फुरतीति सम्भाव्यते, सैव सर्वप्रसिद्धा आत्मशक्तिः' इति भावः।

सा चाऽऽत्मशक्तिः 'आत्मनः शक्तिः' 'आत्मैव शक्तिः' इति वा। उभयथाऽपि सामञ्जस्यम्। 'आत्मनः शक्तिः' इत्यत्राऽभेदषष्ठी 'राहोः शिरः' इतिवत्। शक्तिमन्तरा न कश्चिदन्य आत्माऽस्ति यस्य शक्तिः स्यात्। अग्निर्हि यथा दाहात्मिकां शक्तिमन्तरा नान्यत्किमपि द्रव्यम्। दाहात्मिका शक्तिरेव वह्निः।

तामात्मशक्तिं वन्दनाव्याजेन व्याकरोत्याचार्यः 'तामात्मशक्तिं वन्देऽहं विज्ञानां महतीं हृदि' इति। त्रेधाऽस्य व्याख्यानम्। तथाहि :—

१. विज्ञानां विशेषज्ञानां बुधानां महति हृदि 'ईं' श्रीरूपां

(स्थितां) ताम्प्रसिद्धामात्मशक्तिं अहं (आचार्यः) वन्दे अत्र—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ (गी० १०/४३)

इतिभगवद्वचः स्मृतिपथमवतरति । बुधानां समुदारे हृदि यो नाम स्पृहणीय उदारभावः स तयैव महाशक्त्या संवलितः, तद्रूप एव वा ।

'उदारभावा हि सा शक्तिः उदारयैव दृशा अधिगम्यते' इति उदारदृष्टिसाधनाभ्यास उपदिश्यते ।

२. इदमपरं व्याख्यानं बोधगम्यं भवति यथा-विज्ञानां विशिष्टज्ञानरूपिणीं महति हृदि (स्थिताम्) अहं वन्दे । यद्यपि ज्ञानरूपेण सा सर्वस्यापि हृदये विराजते; तथाऽपि सविशेषं विज्ञानरूपेण महति समुदार एव हृदि तस्याः साक्षात्कारः । विज्ञानं नाम विशिष्टमसाधारणं वा ज्ञानम्; तच्च कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं सामर्थ्यम् ।

ज्ञानं तु साधारणप्रतीतिमात्रविषयम् । तथा च श्रीमदाचार्यपादैरेवान्यत्रोक्तम्—

ज्ञानं तदुच्यते येन सदसद्वस्तुनिश्चयः ।
यथेष्टं भावनिर्माणशक्तिर्विज्ञानमुच्यते ॥ इति

अस्माकं घटबोधो ज्ञानम्, कुलालस्य तु घटविज्ञानम् तन्निर्माणसामर्थ्यात् । तस्या आत्मशक्तेः=विज्ञानपदेन परामर्शः प्रतीतिरूपतां क्रियाशक्तिपर्यन्तरूपतां च प्रतिपादयति ।

इत्थमपि तामेव प्रेरणां लभेमहि, यथा महत्सु हृदयेषु स्थितं महद् विज्ञानं लभेमहि तदर्थमेव च स्पृहयेमहि ।

इदमुभयमपि व्याख्यानं समुदितं **"विज्ञानां महति हृदि विराजितं विज्ञानं समादत्तुम्'** अस्मानुपदिशति । तेनैव तेषामस्माकं च श्रीविलासः स्फुरेत् ।

३. तृतीयेऽस्मिन् व्याख्याने तस्याः शक्तेः स
हृदये सामान्येन दर्शनमनुभूतिर्वा। तथाहि—'अहंवि
'अहम्'इतिप्रतीतिरूपिणीं (सर्वस्यापि) हृदि (स्थिताम्, अत एव,
महतीं व्यापनदृशा सुविशालां जगद्व्यापिनीं ताम्प्रसिद्धामात्मशक्तिं वन्दे। 'अहम्' इत्यध्याहार्यम्।

'अहम्'इति या सर्वत्र प्रतीतिः सा चिद्रूपा आत्मशक्तिरेव। एतेन तस्याः प्रतिप्राणि निर्विशेषा त्रिकालाबाध्या महासत्ता स्फुरत्ता निर्दिश्यते। तथा च महर्षिर्व्यासः—

तमहम्प्रत्ययव्याजात्सर्वे जानन्ति जन्तवः।

अपि च आचार्य उत्पलः—

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेशितुः॥ ई० प्र० १/५/१८ इति।

एष सर्वोऽपि ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय-भावपरिच्छिन्नः प्रपञ्चो यामाश्रित्य स्फुरतीति सम्भाव्यते, तत्र प्रपञ्चे यश्च कश्चित्कश्चिन्महान् भावो वैशिष्ट्यं वा समवभासते, या च प्रत्यात्मनियता अहमिति विज्ञानधारा निर्बाधा प्रवर्त्तते, सर्वोऽप्ययं तस्या एव विलासः। एतद्रूपैव च सा शक्तिः। तस्याश्चिन्तनप्रकारत्रयी खल्वेषा व्याख्यानत्रयी।

'ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेये'तित्रय्याः पूर्वाऽपरभावादाऽसिद्धिः पूर्वमुक्ता। अपि चैषां त्रिकोणस्थितिः, तेन एतेषां पारस्परिकं ताद्रूप्यं सिध्यति। यथा वाद्ययन्त्रे षड्ज-ऋषभ-गान्धारप्रभृतयः स्वरा निश्चितक्रमा अपि सर्व एव षड्जा ऋषभा गान्धाराश्चेत्येवमादयो भवन्ति व्यवह्रियन्ते च, न तु तेषां स्वरविशेषस्य षड्जता, ऋषभता गान्धारता चेत्यादिः स्थिरा भवति; तथैव एषामपि ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयानां परस्परं ताद्रूप्यम्। इदं सर्वमपि ज्ञातृ ज्ञानं ज्ञेयं च। "अहं पश्यामि" अत्र अहं ज्ञाता, "स मां पश्यति" इत्यत्र अहं

ज्ञेयस्थानीयः इदमुभयमपि ज्ञातृत्वं ज्ञेयत्वं च ज्ञानरूपेण तिष्ठति इति अहं ज्ञानम्। इत्थमेषां परस्पराऽभिन्नत्वमेव। अतोऽस्मिँस्त्रिकोणे पूर्वापरभावः प्राथम्यं चैषामन्यतमस्य न सिध्यति। यतः "यद्यत्सापेक्षं तत्तदसत् (असिद्धम्)" तथा च "यद्यत्कल्पितं शब्दविषयं वा तत्तत्सापेक्षम्" अत एषामसिद्धिर्निःसंशया। "एषां परस्तात् निरपेक्षमकल्पितं च किमपि सद्" इत्येव निश्चप्रचम्।

तथाऽपि एषामेषाऽऽनुपूर्वी भावविशेषबोधायैव प्रवृत्ता (पठिता), व्याकरणाग्रहस्तु नाऽत्र कोऽपि। एषां परस्पराऽपेक्षित्वेऽपि ज्ञानस्यैव प्राधान्यम्, यतो हि ज्ञातृ-ज्ञेययोः परस्परसम्बन्धकारणता अत्रैव। "अस्य ज्ञानस्य ज्ञातरि कर्तृत्वेन ज्ञेये च विषयत्वेन स्थितिः; एतदेवोभयत्र स्वस्मिँश्चेति सर्वत्र विराजते। ज्ञातृत्वज्ञेयत्वे तु व्याप्ये, अपरे च। इदमेव व्यापकं परं चेति। अस्यैव प्राधान्येन तयोः परस्परसंयोजकत्वेन मध्यस्थत्वं केन्द्रबिन्दुत्वं अराणां नाभित्वं वा। अथ कतिपयानि पदानि पुनरत्र विमृश्यन्ते—

'यदायत्तः' इति 'आयत्त' पदेन सर्वस्याऽस्य स्फुरणविषयस्य प्रपञ्चस्य नियन्त्रितता प्रतिपाद्यते। एष हि प्रतीतिगोचरः संसारो न केवलं तदधीनतायां तन्निरीक्षणमात्र एव वा वरीवर्त्ति; अपि तु तस्या एव विलासः सन् तया नियन्त्रितः स्फुरणगोचरो भवति। तद्विरहितस्य नाऽस्य क्षणमपि जातु स्फुरणं सम्भवति। अपि च "यदायत्त" इत्यत्र "यद्+अ+आयत्त" इति पदच्छेदः। तेन "यस्य अस्य (ब्रह्मणः) आयत्तः (नियन्त्रणविषयः) इत्यर्थः स्फुरति।

'अ' इत्यपि 'अश्च आश्चेति औ' तयोः आयत्तः। अपि वा एकशेष समासे 'अ' इत्येव। ततः पुनः स एव 'यस्य अस्य आयत्त' इति विग्रहः। अर्थस्तु—'अ' इत्यनुत्तरपदम्, 'आः' च आनन्दरूपः। ततः "सानन्दस्य ब्रह्मण आयत्त" इत्यर्थ आयाति।

एवं च एतद्विश्वनियन्तृ यद् ब्रह्म तदेव सा प्रसिद्धा आत्म-

[प्र०] अयं सर्वविदितो ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयभावो यदायत्तो यदधीनो यदाश्रितो वा स्फुरेत् = प्रतिक्षणं स्फुरतीति सम्भाव्यत इति भावः। सैव आत्मशक्तिः प्राणिमात्रस्य वन्दनीया। अतस्तामेव जीवमात्र-प्रातिनिध्येन वन्दत आचार्यः।

क एष पुनर्ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयभावः ? अशेषोऽयं विश्वाऽपर-पर्यायः प्रपञ्चः प्रत्यात्मप्रतीतिविषयः। अपि च आत्मसत्ताऽपि सर्वस्य प्रतीतिगोचरः। न हि कश्चन आत्मनः स्वस्य वा प्रतीत्या वञ्चितः। जाग्रत्स्वप्नयोरवस्थयोः स्वसत्तां प्रत्येत्येव; सुषुप्तौ यद्यप्येषा प्रतीतिर्न स्पष्टा तथाऽपि तस्याः सत्ता नापलपितुं शक्या। अन्यथा सुप्तोत्थितः 'सुखमहमस्वाप्सम्' इतिप्रतीतिं कथम्प्रतिपद्येत ? तत्रत्यसुखानुभूतेः जाग्रदवस्थायां वाणीद्वारेण प्रकाशनं तदस्तित्त्वे चाऽव्यभिचारि प्रमाणम्। अस्तु।

एषा प्रतीतिरेव ज्ञानं बोधो वा। इदं ज्ञानं च न कदाप्य कर्तृकं सम्भवति। अस्य क्रियारूपत्त्वात्। अतस्तत्कर्त्तुरपि सत्ता-सर्वथाप्यनिवार्या, अकर्तृकायाः क्रियाया एकान्तमसम्भवात्। ज्ञानक्रियायाः कर्ता एव 'ज्ञातृ'पदवाच्यः। 'अहं जानामि' इति 'ज्ञा'धातोः क्रियारूपसम्पादनाय उत्तमपुरुषैकवचनस्य कर्त्तुः समावेशो विहितः। सर्वोऽपि धातुः कर्तृकर्मबोधकप्रत्ययसंयोगेन क्रियापदत्वं लभते इत्थं क्रियायां कर्त्तुः समावेशस्तस्य कर्त्तुरपि सत्तां पृथक् स्वीकुरुते। ज्ञानेन सह ज्ञातुरपि स्थितिः सुनिश्चितैव।

परं नात्रैव विरामः। 'अहं जानामि' इत्यत्र मत्कर्तृकं ज्ञानं सिध्यति, परं तत्राऽपि स्वाभाविकीयं जिज्ञासा 'किंविषयकं तद् मत्कर्तृकं ज्ञानम्' इति। ज्ञानं नहि निर्विषयकं भवति। ज्ञानं खलु यद् विषयी करोति तदेव ज्ञेयपदवाच्यम्। सर्वस्मिन्नपि ज्ञाने एषा खलु विभक्ति (कोटि) त्रयी ज्ञाता, ज्ञानं ज्ञेयं च इति। यद्यपि ज्ञानसाधनं 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्' इति'प्रमाण'पदबोध्यं

चतुर्थं तत्राऽऽयतति; परं तस्य गौणत्वेन न ग्रहणम् । अथवा ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम् इति तस्याऽपि उक्ते ज्ञानपद एवान्तर्भावः । एष एव प्रतिज्ञाननियतो ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय भावः ।

एष च ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयभावः परस्परं सापेक्षः । तथाहि-ज्ञाता ज्ञानं विना न सिध्यति; यस्य नाम ज्ञानं स एव ज्ञाता; असति हि ज्ञाने को नाम ज्ञाता ?

ज्ञेयमपि ज्ञानं विना न तिष्ठति; ज्ञानविषयीभूतं हि ज्ञेयम्, यदा पुनः ज्ञानमेव नास्ति तदा केन नाम ज्ञेयं विषयी क्रियेत ? ज्ञानविषयित्वं विना च ज्ञेयत्वं कुतः ।

ज्ञानमपि ताभ्यां विना न तिष्ठेत्; ज्ञातारं विना कस्य ज्ञानम् ? किन्नाम अकर्तृकं ज्ञानम ? गुणरूपस्य तस्य अधिष्ठानाऽपेक्षित्वं, क्रियात्वेन च कर्तृमुखापेक्षित्वम् । उभयथापि ज्ञातृसापेक्षत्वं ज्ञानस्य सुसिद्धमेव । तथैव न ज्ञानस्य निर्विषयत्वमपि कस्यचिद् बोधस्य विषयः तर्कसम्मतश्च । अतस्तद्विषयस्य ज्ञेयस्याऽपेक्षाऽपि सुनिश्चितैव । इत्थं सुविचारणयैषां प्रत्येकं परस्परसापेक्षता स्पष्टा भवति ।

सति च तथैषां पूर्वापरभावो न सिध्यति । तेन कार्यकारणभावोऽपि न सङ्गच्छते । इत्थमिदमनाद्यनन्तमलातचक्रमिवाऽविद्यमानमेव किमपि समवभासते । विरहितकार्यकारणभावस्य न हि कस्य चित्पदार्थस्य सत्ता स्वीकर्त्तुमुचिता । अत एव कार्यकारणभावविरोधी पूर्वापरभावविरहो ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय-भावानां स्फुरणस्य सम्भावनामेव द्योतयति । न तु स्फुरणं वस्तुतोऽस्तीति मतिं स्पृशति । उद्घोषितमिदं हि सर्वैर्मनीषिभिः 'अन्योन्याश्रयाणि कार्याणि न सिध्यन्ति' इति । एषोऽपि तथाभूतो ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयभावः सिद्धिविरहित एव ।

जागतिके व्यवहारेऽपि पश्यामो वयं पितृपुत्रयोः परस्पराऽपे-

त्तित्वम्; 'पिता हि पुत्रं जनयति, सोऽस्य जनकः कारणं वा' इति स्फुटो व्यवहारः। परं किमिदं तथ्यमपलपितुं शक्यते केनापि विचारजुषा यत् पुत्रोत्पत्त्यैव पितृपदविशेष्यायां व्यक्तौ पितृत्वस्य समुत्पत्तिः, इत्थं पुत्र एव पितुर्जनकः; यतः पुत्रं विना जनकत्वं न सिध्यति। अत एव तु 'न कोऽपि कस्यचिज्जनकः, न च कश्चित् कस्यचित्पुत्रो जनितो वा इत्यस्त्यन्तर्दृष्टिमतां शास्त्राणां राद्धान्तः।

अत एव स 'स्फुरेत्' इति काका न 'स्फुरेत्' इत्याचार्यस्याभिप्रायविषयः। अपि वाऽत्र लिङः प्रयोगस्तस्य स्फुरणस्य सम्भावनामात्रं सङ्केतयति।

तस्य ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयभावस्य सम्भावनामात्रमपि स्फुरणं न स्वतन्त्रम्। अत एवाऽऽचार्यस्तस्य स्वातन्त्र्यनिषेधं 'यदायत्त' इति स्फोटयन् तदाश्रयस्य प्रभोः प्रसिद्धपरामर्शं कृतवान् 'तामात्म'इति।

'यस्याः शक्तेरधीनोऽयं ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयभावः स्फुरतीति सम्भाव्यते, सैव सर्वप्रसिद्धा आत्मशक्तिः' इति भावः।

सा चाऽऽत्मशक्तिः 'आत्मनः शक्तिः' 'आत्मैव शक्तिः' इति वा। उभयथाऽपि सामञ्जस्यम्। 'आत्मनः शक्तिः' इत्यत्राऽभेदषष्ठी 'राहोः शिरः' इतिवत्। शक्तिमन्तरा न कश्चिदन्य आत्माऽस्ति यस्य शक्तिः स्यात्। अग्निर्हि यथा दाहात्मिकां शक्तिमन्तरा नान्यत्किमपि द्रव्यम्। दाहात्मिका शक्तिरेव वह्निः।

तामात्मशक्तिं वन्दनाव्याजेन व्याकरोत्याचार्यः 'तामात्मशक्तिं वन्देऽहं विज्ञानां महतीं हृदि' इति। त्रेधाऽस्य व्याख्यानम्। तथाहि :—

१. विज्ञानां विशेषज्ञानां बुधानां महति हृदि 'ईं' श्रीरूपां

(स्थितां) तांप्रसिद्धामात्मशक्तिं अहं (आचार्यः) वन्दे अत्र—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ (गी० १०/४३)

इतिभगवद्वचः स्मृतिपथमवतरति। बुधानां समुदारे हृदि यो नाम स्पृहणीय उदारभावः स तयैव महाशक्त्या संवलितः, तद्रूप एव वा।

'उदारभावा हि सा शक्तिः उदारयैव दृशा अधिगम्यते' इति उदारदृष्टिसाधनाभ्यास उपदिश्यते।

२. इदमपरं व्याख्यानं बोधगम्यं भवति यथा–विज्ञानां विशिष्टज्ञानरूपिणीं महति हृदि (स्थिताम्) अहं वन्दे। यद्यपि ज्ञानरूपेण सा सर्वस्यापि हृदये विराजते; तथाऽपि सविशेषं विज्ञानरूपेण महति समुदार एव हृदि तस्याः साक्षात्कारः। विज्ञानं नाम विशिष्टमसाधारणं वा ज्ञानम्; तच्च कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं सामर्थ्यम्।

ज्ञानं तु साधारणप्रतीतिमात्रविषयम्। तथा च श्रीमदाचार्यपादैरेवान्यत्रोक्तम्—

ज्ञानं तदुच्यते येन सदसद्वस्तुनिश्चयः।
यथेष्टं भावनिर्माणशक्तिर्विज्ञानमुच्यते ॥ इति

अस्माकं घटबोधो ज्ञानम्. कुलालस्य तु घटविज्ञानम् तन्निर्माणसामर्थ्यात्। तस्या आत्मशक्तेः=विज्ञानपदेन परामर्शः प्रतीतिरूपतां क्रियाशक्तिपर्यन्तरूपतां च प्रतिपादयति।

इत्थमपि तामेव प्रेरणां लभेमहि, यथा महत्सु हृदयेषु स्थितं महद् विज्ञानं लभेमहि तदर्थमेव च स्पृहयेमहि।

इदमुभयमपि व्याख्यानं समुदितं "**विज्ञानां महति हृदि विराजितं विज्ञानं समादत्तुम्**:' अस्मानुपदिशति। तेनैव तेषामस्माकं च श्रीविलासः स्फुरेत्।

३. तृतीयेऽस्मिन् व्याख्याने तस्याः शक्तेः सर्वत्र प्राणिमात्र-हृदये सामान्येन दर्शनमनुभूतिर्वा । तथाहि—'अहंविज्ञानाम्' 'अहम्'इतिप्रतीतिरूपिणीं (सर्वस्यापि) हृदि (स्थिताम्, अत एव) महतीं व्यापनदृशा सुविशालां जगद्व्यापिनीं ताम्प्रसिद्धामात्मशक्तिं वन्दे । 'अहम्' इत्यध्याहार्यम् ।

'अहम्'इति या सर्वत्र प्रतीतिः सा चिद्रूपा आत्मशक्तिरेव । एतेन तस्याः प्रतिप्राणि निर्विशेषा त्रिकालाबाध्या महासत्ता स्फुरत्ता निर्दिश्यते । तथा च महर्षिर्व्यासः—

तमहम्प्रत्ययव्याजात्सर्वे जानन्ति जन्तवः ।

अपि च आचार्य उत्पलः—

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेशितुः ॥ ई० प्र० १/५/१८ इति ।

एष सर्वोऽपि ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय-भावपरिच्छिन्नः प्रपञ्चो यामाश्रित्य स्फुरतीति सम्भाव्यते, तत्र प्रपञ्चे यश्च कश्चित्कश्चिन्महान् भावो वैशिष्ट्यं वा समवभासते, या च प्रत्यात्मनियता अहमिति विज्ञानधारा निर्बाधा प्रवर्त्तते, सर्वोऽप्ययं तस्या एव विलासः । एतद्रूपैव च सा शक्तिः । तस्याश्चिन्तनप्रकारत्रयी खल्वेषा व्याख्यानत्रयी ।

'ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेये'तित्रय्याः पूर्वाऽपरभावादाऽसिद्धिः पूर्व-मुक्ता । अपि चैषां त्रिकोणस्थितिः, तेन एतेषां पारस्परिकं ताद्रूप्यं सिध्यति । यथा वाद्ययन्त्रे षड्ज-ऋषभ-गान्धारप्रभृतयः स्वरा निश्चितक्रमा अपि सर्व एव षड्जा ऋषभा गान्धाराश्चेत्येवमादयो भवन्ति व्यवह्रियन्ते च, न तु तेषां स्वरविशेषस्य षड्जता, ऋषभता गान्धारता चेत्यादिः स्थिरा भवति; तथैव एषामपि ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयानां परस्परं ताद्रूप्यम् । इदं सर्वमपि ज्ञातृ ज्ञानं ज्ञेयं च । "अहं पश्यामि" अत्र अहं ज्ञाता, "स मां पश्यति" इत्यत्र अहं

ज्ञेयस्थानीयः इदमुभयमपि ज्ञातृत्वं ज्ञेयत्वं च ज्ञानरूपेण तिष्ठति इति अहं ज्ञानम्। इत्थमेषां परस्पराऽभिन्नत्वमेव। अतोऽस्मिँस्त्रिकोणे पूर्वापरभावः प्राथम्यं चैषामन्यतमस्य न सिध्यति। यतः "यद्यत्सापेक्षं तत्तदसत् (असिद्धम्)" तथा च "यद्यत्कल्पितं शब्दविषयं वा तत्तत्सापेक्षम्" अत एषामसिद्धिर्निःसंशया। "एषां परस्तात् निरपेक्षमकल्पितं च किमपि सद्" इत्येव निश्चप्रचम्।

तथाऽपि एषामेषाऽऽनुपूर्वी भावविशेषबोधायैव प्रवृत्ता (पठिता), व्याकरणाग्रहस्तु नाऽत्र कोऽपि। एषां परस्पराऽपेक्षित्वेऽपि ज्ञानस्यैव प्राधान्यम्, यतो हि ज्ञातृ-ज्ञेययोः परस्परसम्बन्धकारणता अत्रैव। "अस्य ज्ञानस्य ज्ञातरि कर्तृत्वेन ज्ञेये च विषयत्वेन स्थितिः; एतदेवोभयत्र स्वस्मिँश्चेति सर्वत्र विराजते। ज्ञातृत्वज्ञेयत्वे तु व्याप्ये, अपरे च। इदमेव व्यापकं परं चेति। अस्यैव प्राधान्येन तयोः परस्परसंयोजकत्वेन मध्यस्थत्वं केन्द्रबिन्दुत्वं अराणां नाभित्वं वा। अथ कतिपयानि पदानि पुनरत्र विमृश्यन्ते—

'यदायत्तः' इति 'आयत्त' पदेन सर्वस्याऽस्य स्फुरणविषयस्य प्रपञ्चस्य नियन्त्रितता प्रतिपाद्यते। एष हि प्रतीतिगोचरः संसारो न केवलं तदधीनतायां तन्निरीक्षणमात्र एव वा वरीवर्त्ति; अपि तु तस्या एव विलासः सन् तया नियन्त्रितः स्फुरणगोचरो भवति। तद्विरहितस्य नाऽस्य क्षणमपि जातु स्फुरणं सम्भवति। अपि च "यदायत्त" इत्यत्र "यद्+अ+आयत्त" इति पदच्छेदः। तेन "यस्य अस्य (ब्रह्मणः) आयत्तः (नियन्त्रणविषयः) इत्यर्थः स्फुरति।

'अ' इत्यपि 'अश्च आश्चेति औ' तयोः आयत्तः। अपि वा एकशेष समासे 'अ' इत्येव। ततः पुनः स एव 'यस्य अस्य आयत्त' इति विग्रहः। अर्थस्तु—'अ' इत्यनुत्तरपदम्, 'आः' च आनन्दरूपः। ततः "सानन्दस्य ब्रह्मण आयत्त" इत्यर्थ आयाति।

एवं च एतद्विश्वनियन्तृ यद् ब्रह्म तदेव सा प्रसिद्धा आत्म-

शक्तिः परमात्मशक्तिर्वा, न ततोऽन्यत्किमपि । शक्तिशक्तिमतोरभेदादुभयस्यापि ऐक्यं समुपपन्नमेव । एतेन वेदान्तादिशास्त्रप्रतिपाद्यं ब्रह्म एषा आत्मशक्तिरेव ।

"अहम्" इति अकारादि हकारान्तं निखिलं वाङ्मयम्; तद्विज्ञानां तद्विज्ञानरूपिणीं सरस्वतीं शक्तिं निगमागमादिस्वरूपिणीं अहंविज्ञानाम् ।

"अशेषस्याऽस्य वैदिकस्य लौकिकस्य च अहर्निशं व्यवह्रियमाणस्य लेखनिबद्धस्य मौखिकस्य च वाक्प्रसरस्य अन्तःस्थिता सैव आत्मशक्तिः साधकेन साक्षात्कर्त्तव्या "इत्येषोऽपरः साधनाप्रकारः ।

"हृदि" इति 'हृद्+इ' पदच्छेदः । 'इ' इति लक्ष्मीपर्यायस्य 'ई' शब्दस्य सम्बुद्धौ रूपम् । 'हृद्' इति द्वितीयैकवचनान्तम् ।

'महतीम्' इति शतृवद्भाववत्प्रयोगः वर्तमाने पृषन्महद्बृहज्जगच्छतृवच्च अपि वा महती च सा ई ताम् ।

इत्थं हे इ!=महाकामेश्वरि! हृद् अन्तःकरणं (निग्रहानुग्रहसर्गस्थितिलयसङ्कलनशक्तिबिन्दुं) महतीं स्वस्थित्या स्वेन रूपेण वा पूजयन्तीं तां (त्वाम्) वन्दे ।

अपि वा 'महतीं' कामरूपिणीं हृदि (स्थिताम्) तां (त्वां) वन्दे इत्यर्थद्वयी फलति ।

एतेन हृदयस्यापि तद्रूपत्वं सोसूच्यते । हृदयं हि निग्रहानुग्रहसर्गस्थितिलयसङ्कलनशक्तिबिन्दुः । सैव आत्मशक्तिः सर्वस्य हृदि इच्छारूपेण जागर्ति । सैव लोके परमार्थे च सर्वस्य वन्दनीया । न सा केनापि ज्ञानिनाऽज्ञानिनापि च अवहेलयितुं शक्या । अपि च "एकोऽहं बहु स्याम्" इतीच्छास्फुरणमेव अशेषमिमं सर्गं प्रादुरभावयत् ।

"प्रतिक्षणं स्फुरन्तीषु स्वस्य परस्य वा व्यवहारे सदसत्का-

मनासु सैव शक्तिः परिचेतव्या" इतीयमपरा साधना। एवं कृते न शोकक्रोधादीनां वेगा धर्षन्ति ब्राह्मी च स्थितिः लभ्यते; ततो न विमोहः।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ! नैनाम्प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥(गी० २/७२)
इतोऽधिकं श्रीगुरुनाथमुखादवगन्तव्यम् ॥१॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
प्रथमा कारिका।

—०***०—

[वि०] आत्मनः परिचयं कारयन्त आचार्य्यवर्या द्वितीयं पद्यमाहुः—

[प्र०] आदिमे पद्ये आत्मशक्तिं नमस्यता विवृण्वता च आचार्येण 'अहंविज्ञानाम्' पदेन तस्या वाङ्मयत्वं संकेतितम्; सम्प्रति तदेव पुनर्विशदयति—

स्वतन्त्रं निरपेक्षं यदमृतं ब्रह्म वाग्भवम्।
परिपूर्णं शक्तिघनं स्वप्रकाशं तदस्म्यहम् ॥२॥

[वि०] ग्रन्थकृद्धि स्वयं परमेश्वराऽभिन्न इति तात्पर्यमस्य पद्यस्य। यद् ब्रह्म तदहमस्मीति हि मुख्यं वाक्यम्। पदान्तराणि ब्रह्मणो विशेषणानि। ब्रह्म हि बृहदपरिमितम्। देशकालसंकोचवैकल्यात्। स्वतन्त्रं च तत्, न परमुखप्रेक्षि, सृष्ट्यादिकरणे न कस्यापि साहाय्यमपेक्षते यतः। किञ्च प्रकाशविमर्शरूपमद्वैतं सदपि विश्ववैचित्र्यरूपेणाऽवभासते। एवं भासमानं च सदपि स्वरूपादद्वैतान्न मनागपि च्यवते इत्ये-

तदतिदुर्घटकारित्वमप्यस्य 'स्वातन्त्र्यम्'इत्युच्यते । प्रकाशविमर्शरूपं संवित्तत्त्वं विहाय हि सकलमपि स्वस्य सिद्धौ संविदमपेक्षमाणं वर्त्तते । संवित्तत्त्वरूपं ब्रह्म तु स्वसिद्धौ न किमप्यपेक्षते आदिसिद्धं हि तत् । भेददशामवतीर्णं सद् देहप्राणाद्यभिमानिपशुप्रमातृरूपत्वेन चकासदपि स्वसिद्धौ न किमप्यपेक्षते । सर्वस्य ह्यतिमूढस्यापि स्वात्मा स्वसंवेदनसिद्ध एव । न च कस्यापि तत्र शङ्का । यतो न कोऽपि "अहमस्मि वा न वाऽस्मि" इति संशयं कुरुते । आबालवृद्धमातिर्यग्जीवजातं च सर्वेऽपि स्वात्मानं'अहम्' इति दृढया प्रतिपत्त्या सत्त्वेन संविदन्ति । ततो ब्रह्म स्वयंसिद्धत्वान्निरपेक्षम् । पारिपूर्ण्यादपि तन्निरपेक्षम् । यो ह्यपूर्णो भवति स एव वैकल्यमपनेतुं किमप्यपेक्षते । यत्तु सर्वथा सर्वतश्च परिपूर्णं तत् किमपेक्षेत ? अमृतं च ब्रह्म, यतः शाश्वतं तत् । इह हि यत्किञ्चिदस्ति तत् संविद्रूपमेव वस्तुतः । संविच्चैका विश्वनिर्भरा, तत एव परिपूर्णाहंविमर्शरूपा । न तत्र कश्चन भेदः सम्भवति । परं संविद्रूपस्य परब्रह्मणोऽपोहनशक्तिरेव सा, ययाऽसौ पूर्णमपि स्वात्मानं भिनत्तीव । अपरिच्छिन्नमपि सत् परिच्छेदोल्लासनेन संकुचितमिवात्मानमवभासयति । तन्महिम्नैव प्रमेयं प्रमातुः, प्रमेयं प्रमेयान्तरात् । प्रमातारं च प्रमात्रन्तराद् विच्छेदेनाऽवभासयति । तद्विच्छेदाऽवभासनवशादेव सम्बन्धरूपताया उल्लासो भवति । अभेदे हि कः सम्बन्धः ? कस्य वा सम्बन्धः ? सम्बन्धविशेष एव चाऽत्र कालः । स च सकलमपि भावजातं संकुचितं सम्पादयन् मरणधर्माणं सम्पादयति । तदित्थं कालकृतसंकोचरूपं मरणधर्मवत्त्वं भगवतोऽपोहनशक्तावेव विश्रान्तम् । भगवाँश्च तस्याः शक्तेरुल्लासने संकोचने च स्वतन्त्रः । ततोऽसावपि तस्याऽधीनतां भजमाना न तत्र प्रभवितुमलम् । तेनैव कालस्पर्शाऽसहिष्णुत्वेन ब्रह्म, 'अमृतम्' इति विशेषणस्य विशेष्यतया निर्दिष्टम् । अमृतमितिविशेषणपदेन कालकृतसंकोचाऽभावः । ब्रह्मेतिविशेष्यपदेन च बृहत्त्ववाचकेन देशकृतसंकोचाऽभावो ब्रह्मणो व्यज्यते ।

ननु परमेश्वरः कथं परस्परविरुद्धैर्भेदाऽभेदादिभिः स्वरूपैरव-

भासितुं शक्तः । उक्तं ह्यत्रोत्तरं, यदसौ स्वस्वातन्त्र्यमहिम्नैवैवमवभासत इति । ननु किंरूपमस्य तत् स्वातन्त्र्यं पारमैश्वर्यं वा, कथं च तन्महिम्ना विरुद्धमवभासते ? अत्रोच्यते—नीलं हि नीलमेव न पीतं, पीतं चाऽपि पीतमेव न नीलमिति नीलत्वपीतत्वे परस्परं विरुद्धे । यद्धि नीलं, न तत् पीतम् । यच्च पीतं, न तन्नीलम् । परं शुद्धे स्फटिकादौ प्रतिबिम्बग्रहण-शक्तिरस्ति येन तन्नीलाद्युपरागं गृह्णत् क्रमेणाऽक्रमेण वा नीलमपि पीत-मपि भासमानं दृष्टम् । न च नीलत्वोपरागधारणवशात् स्फटिकः स्व-स्मात् शुद्धरूपत्वाच्च्यवते । नीलाद्युपरागेषु सत्स्वसत्सु वा स्फटिकः शुद्ध एव न मनागपि मलिनः । एवमेव हि प्रकाशोऽपि विश्वच्छायामात्मनि धारयन् भेदाऽभेदादिविरुद्धरूपैर्भासमानोऽपि न विरुद्धत्वदोषभाक् ।

ननु प्रकाशोऽपि प्रतिबिम्बग्रहणे समर्थः, स्फटिकमुकुरसलिलादि-र्चापि तथा । तद्यथा स्फटिकादि प्रतिबिम्बग्रहणे शक्तमपि जडमेव, तथैव प्रकाशोऽपि जड़ एव स्यात् । ततो न किमपि स्वातन्त्र्यमैश्वर्यं वोक्तं स्यात् प्रकाशरूपत्वेन कथितेन ब्रह्मणः । सत्यम्, परं स्फटिको हि प्रतिबिम्बं गृह्ण-न्नपि प्रतिबिम्बरूपं नीलादि वा, इदं नीलमित्यादिरूपेण, स्वात्मानं वा, अहं नीलादिप्रतिबिम्बवानित्यादिरूपेण विमृष्टुं नाऽलम् । तत एव स्फ-टिको मुकुरादयो वा जड़ा इति मताः । प्रकाशरूपः प्रमाता हि प्रथममा-त्मानं विमृशन्नास्ते 'अहम्'इति । तद्विमर्शबलादेवात्मप्रतिबिम्बितं नीलाद्यपि विमृष्टुं शक्नोति 'नीलमिदम्'इत्यादि । तदित्थं प्रकाशस्याऽन्तर्विमर्शोऽस्ति वर्त्तमानो येनाऽसौ'चेतन'इति 'स्वतन्त्र'इति 'ईश्वर' इत्यादि च व्यवह्रियते । सहि विमर्श एवास्यैश्वर्यम् । स च विमर्शोऽभेददशायां 'अहम्'इतिशब्द-नात्मकः । परं सा शब्दना परब्रह्मणि न साङ्केतिकी श्रोत्रग्राह्या मनसा वा संकल्प्या । संकेतस्य मायादशायां भेदभूमिकायामेवोल्लासात् । ततो-ऽसौ तत्र परावाग्रूपा विश्वनिर्भराऽद्वैतनिर्विकल्पाऽहंविमर्शरूपा, अस्मि-तासमाधौ संवेद्या । सैव हि ब्रह्मणो ब्रह्मत्वप्रयोजिका । सैव हि प्रकाश-रूपस्य तस्य प्रकाशत्वजनयित्री । तद्वशादेव हि ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशि-

वानामाविर्भावः । तत्रैव च तेषां लयः । तद्यतो ब्रह्मणो जीवितकल्पाऽसौ जीवनदायिनी वाग्रूपता तत एव तद् ब्रह्म वाग्भवमिति वर्णितम् । उक्तं च श्रीभर्तृहरिणा वाक्यपदीये—

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥
अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ इति च ।

किं च वाग्भवं ब्रह्म 'अमृतम्'=अनवच्छिन्नप्रकाशविमर्शरूपम् । एतैः पदैर्मुद्रणालङ्कारदिशा 'अमृतवाग्भव'इति स्वनामोल्लेखोऽप्यत्र पद्ये आचार्यमहोदयैः कृतः । तच्चाऽमृतं वाग्भवं ब्रह्म, विश्वनिर्भरत्वात् परिपूर्णम् । सत्कार्यवादो ह्ययं सांख्यै रुपदिष्टः । यद् बीजे वर्त्तमान एव वृक्षः क्षित्यादिसाहाय्येनाऽविर्भवति, दुग्धे च वर्तमानमेव दधि औष्ण्यसाहाय्येन व्यक्ततामापद्यते । तथैव सकलं विश्वं प्रधानेऽव्यक्तरूपेण वर्त्तमानमेव सत् प्रधानपरिणामवशाद् व्यक्तरूपतां लभते । दुग्धे दधिरूपतया परिणते दुग्धत्वं न तिष्ठति, दुग्धं हि तदा दुग्धत्वाच्च्यवते । बीजमपि वृक्षदशापरिणतं बीजत्वं तत्कालं जहाति । परमत्र स्वातन्त्र्यवादे परं ब्रह्म स्वशक्तिमहिम्ना विश्वरूपतया भासमानमपि स्वकीयां प्रकाशविमर्शरूपतां शुद्धामत्यजदेव सम्मतमित्ययमेव वास्तविकः सत्कार्यवादः । यतो हि शुद्धसंविद्दशायां सकलमपि विश्वं परिपूर्णाऽहंरूपतायामवतिष्ठते । भेदाऽभेददशायां च 'अहमिदम्'इतिविमर्शसारतया सामानाधिकरण्येनाऽवभासते, भेदभूमिकायां पुनः 'इदम्'इति सर्वथा पृथग्भावेन चकास्ति । ततस्तिसृष्वपि दशासु विश्वमपि कार्यजाताऽपरपर्यायं भावजातमस्त्येव, न तु नास्ति । नामरूपे एव हि तस्य ज्ञानोन्मेषेण बाधिते, न तु सत्त्वं पारमार्थिकम् । तेन शुद्धसंविद्रूपेण घटाद्यपि सदैवाऽस्त्येवेत्येवमयं सत्कार्यवादो निर्वहति । ततस्तद्ब्रह्म विश्वेन भावजातेनाऽहमितिविमर्शसारतया प्रकाशमानेन सदैव परितः पूर्णमिति परिपूर्णत्वेन वर्णितम् । परब्रह्मणः शक्ते-

महात्म्यं ह्यनेकश उक्तम्।

ननु सा शक्तिः परब्रह्मणो भिन्ना चेद् भवेत् तदा खण्डितं तस्याऽद्वैतत्वं परिपूर्णत्वं च। अत्र कथ्यते—शक्तिर्हि न शक्तिमतो भिद्यते। तयोरैक्याद्। नामद्वयमिदमुपदेशाऽध्यापनोपासनादिशुद्धव्यवहारोपयोगितायै कल्पितमृषिभिरेकस्यैव तत्त्वस्य। अत एवोक्तमाचार्याऽभिनवगुप्तपादैः श्रीतन्त्रालोके—

नैष शक्तिर्महादेवी न परत्राश्रितो यतः।
न चैष शक्तिमान् देवो न कस्याप्याश्रयो यतः॥ (२/२४/)
दुर्विज्ञेया हि साऽवस्था किमप्येतदनुत्तरम्॥ २/२८/इति।

तदेतदनन्तशक्तिमयत्वमेव शक्तिव्राताऽभिन्नत्वाऽपरपर्यायं परब्रह्मणः प्रतिपादयितुं 'शक्तिघनम्'इत्युक्तं न शक्तिमदिति। मतुबः सम्बन्धवाचकत्वेन भेदनिष्ठत्वात्। यथा हि सैन्धवघनं सर्वथा सर्वतश्च सैन्धवमयमेव तथा परब्रह्म सर्वथा सर्वतश्च शक्तिघनम्, विमर्शाख्यशक्तिमयम्। प्रकाशबलेनैव हि सकला भावव्यवस्था। प्रकाशाऽनुग्रहं विना न किमपि प्रकाशेत, इति जड़ान्धमूकबधिरप्रायं विश्वं स्यात्, तदपि वा न स्यात्। ततश्च प्रागुक्तनयेन सकलमपि स्वसत्तासिद्धौ प्रकाशमुखप्रेक्षि। चेतनत्वेनाऽभिमन्यमानं शरीरप्राणाद्यपि प्रकाशाधीनसिद्धि। प्रकाशराहित्येन हि तस्य प्रमातृत्वाऽभिमानोऽपि न सम्भवतीति सर्वं पर्यन्ततः शुद्धप्रकाशविश्रान्तमेवाऽवभासतेऽर्थ्यते चार्थक्रियायै। स च प्रकाशो न प्रकाशान्तरमपेक्षते स्वात्मानं प्रकाशयितुम्। ततोऽसौ स्वेनैव प्रकाशेन प्रकाशते। मूढोऽपि हि स्वात्मानं स्वसंवेदनेनैव प्रकाशमानं संवेदयते। अतस्तद् ब्रह्म स्वप्रकाशमिति वर्णितम्। तथा चोपनिषद्वाक्यम्—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः॥
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति इति ॥२॥

[प्र०] स्वतन्त्रमनन्यप्रभु । निरपेक्षं = अपेक्षारहितम् । सत्यम् न तु काल्पनिकम् । सापेक्षस्यैव तथात्वम् । अत एव तस्य सद्भावः । तदितरस्य तु सर्वस्याऽपि भावरूपेण स्फुरणविषयस्य कल्पनामात्रजन्यता । अतो न तस्य सत्ताऽपि । तथा च सति निरपेक्षताऽस्य सुसिद्धा । परिपूर्णं = सर्वतोऽविकलम् । वस्तुतस्तु पूर्णत्वेनैव तस्य अवैकल्यं सिद्ध्यति । तथापि उक्ताया निरपेक्षताया भूयः स्पष्टीकरणाय स्वभावदार्ढ्याय च 'परि'इत्युपसर्गनियोगः । शक्तिघनं = शक्तिमात्रं शक्तिमयं वा । न हि तद् तस्य शक्तिं वा अन्तरा किमप्यन्यद् विद्यते । स्वप्रकाशं प्रकाशकान्तरापेक्षाविरहितम् । स्वत एव तत् प्रकाशते निरन्तरम् । अतस्तद्बोधाय साधनान्तरं नैवाऽपेक्ष्यते ।

एषाम्प्रत्येकं विशेषणं विवक्षितभावस्फोटने समर्थम् । तथापि पदार्थबोधस्फीतये विभिन्नतद्दर्शनदृक्कोणनिर्देशाय च एषां पृथक् पृथगुपादानम् ।

उक्तलक्षणं यद् अमृतं = जरामरणविवर्जितं, अविनाशि अमृतोपममाधुर्यभरितं अमृतस्वरूपमेव वा । वाग्भवं वाचां भव, तासाम्प्रादुर्भूतिरूपं वाङ्मयम् , वाचो भवन्त्यस्मादिति वा । ब्रह्म = श्रुतिरूपं आत्मशक्तिस्वरूपं वा । उभयमपि बृहत्वाद् ब्रह्म (अस्ति) तद् 'अहम्' उत्तमपुरुषैकवचनो वक्ता आचार्य इति यावत्, अस्मि । इत्थमेव सर्वोऽपि जीवोऽस्ति । अस्मीति अनुभूतिर्हि सर्वस्य अपरोक्षा । उक्तञ्चाप्याचार्यप्रवरेण स्वमहानुभवशक्तिस्तवे—

"अस्मीतिमात्रभरिताखिलविश्वभावा" इति ।

अहम्पदव्यवहार्या चित्ता सर्वस्य हृदि अनन्यसाधारणा सैव वाग्भवं ब्रह्म । न ततोऽतिरिक्तमस्ति किमपि ।

अपि च यदुक्तलक्षणं वाग्भवं ऋतं मूलसत्यस्वरूपं 'अहम्' इत्यनुत्तरपदं ब्रह्म तद् अहमस्मि ।

अपि वा यत्प्रतिपादितस्वरूपं स्वतन्त्रादिविशेषणं 'अमृतं' 'अहम्' अकारादिहकारान्तं वर्णसमाम्नायरूपं । ब्रह्म तद् अस्मि । 'अहम्' इति पुनरावृत्तिः 'यद् अहं ब्रह्म तद् अहं अस्मि' इति ।

अन्यच्च यद् ब्रह्मवाक्=ब्रह्म वाचयत इति ब्रह्मवाक् । 'भवम्' भवः शिवः सर्गो वा अस्यास्ति तत् । अत्र मतुबर्थे "अर्श-आदिभ्योऽच्" (पा. सू.) । इत्थञ्च यद् ब्रह्मवाक् भवं ऋतं अं ब्रह्म तद् अस्मि इति पद योजना ।

इत्थमाचार्यस्तस्या आत्मशक्तेः वाङ्मयत्वं विभुत्वं अद्वितीयत्वं च भावगभीरया किन्तु सरलया वाचा निर्दिशति । एष एव निर्देश उपलभ्यते श्रीराष्ट्रालोकस्य श्रीराष्ट्रसंजीवनभाष्ये आदिमे मङ्गलपद्ये—

अक्षरामिन्दुकलितामुदारां विन्दुनादिताम् ।
अमृतां वाग्भवां शैवीं तां वन्दे चित्कलामहम् ॥

सा हि नादरूपिणी विन्दुकला वर्णसमाम्नायेन शरीरवती साधकेन सर्वत्र अहंरूपेण अनुसन्धेया । 'अहम्ब्रह्मास्मि' इतिवेदान्तसमुद्घोषो नाऽतो व्यतिरिक्तः । अपि तु एष आचार्यस्य शङ्ख-नादः ततोऽपि स्पष्टतरः परश्च । न केवलं उत्तमपुरुषैकवचनः अहं 'ब्रह्म' अपि तु अहमितिप्रतीतिगोचरः सर्वोऽपि स्फुरन्नेष सर्गः । तथा योऽप्येष ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च शब्दः स सर्वोऽपि ब्रह्मैव । अतोऽहं नैतत्सर्गभिन्नं ब्रह्म । मदीयैवैषा मद्रूपिणी एव वा सर्वा स्फुरत्ता चित्ता च ।

अत्राचार्यो ब्रह्मणः तच्छब्देन निर्देशं कृत्वा 'अहमस्मि' इति 'अस्मि' इति वा पुनः अस्मच्छब्देन निर्देशं कुरुते । एतदपि

साभिप्रायम् । दृश्यते हि लोके परोक्षस्य पदार्थस्य तच्छब्देन परामर्शः । एतेन ब्रह्मणः परोक्षतां सर्वस्याऽनुभवसिद्धां प्रतिपादयति । ततश्च तस्यैव अपरोक्षतां 'अहम्' इति 'अस्मि' इति पदद्वयेन स्फोटयति । 'अहम्' इति व्यवहारः सदा अपरोक्ष एव पदार्थे भवति । इत्थमिदमुक्तं भवति यत्—

सर्वेणाप्यनुभूयमाना ब्रह्मणः परोक्षता न वास्तविकी, सा स्वकल्पितैव । वस्तुतस्तु ब्रह्म अपरोक्षमेव सर्वस्याऽपि सदाऽस्मि-रूपमित्यास्तां रहस्याऽरहस्यनेन ॥ २ ॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
द्वितीया कारिका ।

—०***०—

[वि०] बन्धमोक्षक्रीड़ावैचित्र्यरूपस्य संसारस्य कारणतया ब्रह्मशक्तिर्वर्ण्यते तृतीयेन पद्येन—

[प्र०] अदिमे पद्ये आत्मशक्तिं नमस्यता विवृण्वता च आचार्येण 'अहंविज्ञानाम्' पदेन तस्या वाङ्मयत्वं संकेतितम्; सम्प्रति तदेव पुनर्विशदयति—

स्वयंसिद्धा भगवती ब्रह्मशक्तिरहम्महः ।
इच्छत्यवैति कुरुते निग्रहाऽनुग्रहात्मिका ॥३॥

[वि०] परमेश्वरस्य पञ्चविधकृत्यमयी संसारोल्लासनक्रीड़ा हि मुख्यतया द्विरूपा, अवरोहमयी, आरोहमयी च । स्वविलासेनैव भगवान

शिवादिधरण्यन्ततत्त्वसोपानक्रमेण अकलादिसकलान्तप्रमातृभेदसोपानक्रमेण चाऽवतरन् विश्वरूपतां बहिर्भावेनाऽवभासयन्ननन्तैः रूपैः पशुदशायां वर्त्तमानः सन् देहादिकमेव स्वात्मत्वेन मन्यते। सकलं च विश्वमात्मनो भेदेन पश्यति। देशकालकृतसंकोचेन संकुचितमात्मानं मन्यते। किञ्चिदेव कर्तुं ज्ञातुं च समर्थो भवति न सर्वम्। नियतिकृतैर्नियमैर्यत्र तत्रोपरुध्यते। संकुचितत्वादपूर्णमात्मानं मन्यते। अपूर्णत्वाच्च किञ्चिदात्मनो हितं किञ्चिच्चाहितं मन्यते। हितप्राप्तयेऽहितनिवारणाय च यतते। शास्त्रविध्यनुसारमपि यतते। रागादिवैवश्याच्छास्त्रविधेरवहेलनां कुर्वंस्तद्वैपरीत्येनापि यतते। अपूर्णत्वादेव विषयव्रातमिच्छति, तत्प्राप्तये च यतते। विहितनिषिद्धानि कर्माणि कुर्वन् पुण्यपापभाग् भवति। पुण्यपापफलरूपत्वेन सुखदुःखे अवाप्नोति। सुखदुःखोपभोगार्थं पुनः पुनः शरीराणि धारयति। इत्थं सन्तत्या जननमरणदुःखपीड़ादिभिः खिद्यते, क्लेशकर्मविपाकैः पाशितो भवति। एवम्प्रायश्च सर्वोऽपि परमेश्वरक्रीड़ाभागस्तस्य 'अवरोह' इति व्यवह्रियते। एषोऽवरोह एव निग्रहशक्तेरुल्लासः परमेश्वरस्य इति शास्त्रेषूपदिश्यते। अनुग्रहशक्तेरुल्लासश्च 'आरोह' इतिनाम्ना व्यवह्रियते शास्त्रकृद्भिः। तथाहि—अनुग्रहशक्तिमुल्लासयन् आरोहक्रीड़ामेवं करोति। पशुदशायां वर्त्तमानोऽपि सुखदुःखभोगान् भुञ्जानोऽपि च शास्त्रेषु रतिं कुरुते। साधूनां सङ्गत्यां रज्यति, विवेकं विकासयति, ऐहिकाऽऽमुष्मिकभोगान् पर्यन्ततो नीरसान् दुःखमयाँश्चाऽवधारयति। संसारस्याऽसारतां मुहुर्मुहुर्विमृशति। निषिद्धं कर्म परिहरति। विहितमेव कुरुते, जन्मजरामृत्युव्याधिप्रभृतिभिरापद्भिः सन्त्रस्तः सन् परमेश्वरं शरणं गच्छति। एवं परमेश्वरमाराधयँस्तस्याऽनुग्रहलीलोन्मुखतामिमां तीव्रतामापादयितुं यतते। तीव्रे चाऽनुग्रहे सति सद्गुरुमुपास्ते, तच्छासनेन च रहस्योपायेषु दीक्षां लभते, ततश्च क्रमेण स्वकीयां परिपूर्णां शुद्धप्रकाशविमर्शमयीं संविद्रूपतां परमेश्वरतां प्रत्यभिज्ञाय "अहमेवाऽसौ सर्वशक्तिमान् परमेश्वरः" इत्यभिमन्यमानोऽनुग्रहशक्त्युल्लासरूपस्याऽरोहाख्यस्य माहैश्वर्यक्रीड़ाभागस्य परां काष्ठां प्राप्नोति। अनेनैवाऽभिप्रायेण ब्रह्मशक्तिरत्र

निग्रहाऽनुग्रहात्मिकेति वर्णिता ।

सा च शक्तिः स्वयंसिद्धा=सर्वस्य स्वसंवेदनसिद्धा । न हि कोऽप्यात्मचेतनाविषये किमपि प्रमाणमन्विष्यति, अज्ञातज्ञापकत्वात् प्रमाणस्य । चेतनायाश्च सर्वदैव सिद्धत्वेनैव भासनात् । सर्वेषां प्रमाणानां हि तदाश्रयेणैव प्रमाणतालाभसम्भवात् । न हि चेतनामनाश्रित्य किमपि प्रत्यक्षादिकं कञ्चिदपि घटादिकं ज्ञापयितुमलमिति न प्रामाण्यं भजेत । प्राक्तने हि पद्ये विमर्शसारप्रकाशरूपं ब्रह्म स्वप्रकाशं यथा व्याख्यातं तथैव प्रकाशसारत्वात् सततं प्रकाशमाना विमर्शरूपिणी शक्तिरपि स्वप्रकाशत्वादेवेह स्वयंसिद्धेति मन्तव्या । शक्तिश्चेयं भगवती । भगश्चैश्वर्यम् । तदियमैश्वर्यवती ऐश्वर्यरूपैव वा । ऐश्वर्यं च परं पञ्चकृत्यक्रीड़ानैपुण्यम् । तच्च परमेश्वरस्य पूर्वं प्रतिपादितमेव । एतदपि हि प्रतिपादितं यत् परमेश्वरः शक्तिघनः शक्तिघनत्वात् शक्तिमत्त्वमाहात्म्यादेव च तस्य पञ्चकृत्यक्रीड़ास्वभावता तदेव च तस्यैश्वर्यम् । शक्तिशक्तिमतोरभेदोऽपि तत्र प्रतिपादित एव । तत एतत् सिद्धं यदियं परविमर्शमयी शक्तिरेव वस्तुतः पञ्चविधकृत्यलीलानिपुणा तदियमैश्वर्यवती, तत एव 'भगवती' इत्युपवर्णिता । ब्रह्मशक्तिः=ब्रह्मणो ब्रह्मत्वप्रयोजिका शक्तिः, ब्रह्मरूपिणी वा शक्तिरित्यत्र षष्ठीसमासो वा कर्मधारयो वा । अथवा 'ब्रह्म'इति, 'शक्तिः'इति च पृथक् पदद्वयम् । तथा च सा शक्तिः प्रपञ्चोल्लासनविलापनसामर्थ्यरूपा परविमर्शाख्या भगवती ब्रह्म=बृहत्त्वादपरिमितेति ब्रह्मपदस्य यौगिकत्वे । योगरूढ़त्वे तु भगवतीयं परविमर्शशक्तिरेव वेदान्तादौ प्रसिद्धं ब्रह्म । अथवा 'ब्रह्म'इत्येवानुवाद्यं शक्तिपदं च विधेयम् । तदा यत्तद् 'वाग्भवं' ब्रह्म प्रतिपादितं प्राक्तने पद्ये स्वयंसिद्धत्वादिविशेषणविशिष्टं विमर्शशक्तिरूपमेव तदित्यर्थः । तस्याश्च ब्रह्मशक्तेः 'अहम्महः' इति स्वरूपम् । 'अहम्महः'इत्यस्याऽहंज्योतिरित्यर्थः । सा शक्तिः परिपूर्णाऽहंताहमितिप्रकाशविमर्शसारेति तात्पर्यम् । अथवा 'अहम्'इति 'महः'इति च पृथगेव पदद्वयम् । तदा सा शक्तिः 'अहम्'इति स्वात्मचमत्काराऽऽत्मक-

परविमर्शरूपा । न च विमर्शः प्रकाशरहितो भवतीत्यसौ 'महः' इति ज्योतीरूपा प्रकाशरूपेति तात्पर्यम् । इत्थं 'ब्रह्म' इति 'शक्तिः' इति 'अहम्' इति 'महः' इति पदचतुष्टयं वा 'ब्रह्मशक्तिः' इति 'अहम्' इति 'महः' इति, पदत्रयं वा, 'ब्रह्मशक्तिः' इति, 'अहम्महः' इति पदद्वयं वात्र बोध्यम् । पारमेश्वर्याः शक्तेश्चोल्लासेऽनन्तरूपताऽवभासते । परमनन्तास्वपि तासु शक्तिषु शक्तित्रयं सिद्धजनैः शास्त्रकृद्भिश्च प्राधान्येनाऽभिषिच्यते । तच्च शक्तित्रयमिच्छाज्ञानक्रियात्मकम् । प्रपञ्चोल्लासनविलापनयोर्हि ज्ञानक्रियाशक्त्योः प्राधान्यम् । सदाशिवेश्वरदशयोरेतच्छक्तिद्वयाऽभिव्यक्तिः प्रबुद्धैः स्वयं संवेदनीया । उल्लासनविलापने एव निग्रहानुग्रहौ । सृष्टिसंहारौ तु ततः पृथगेव ब्रह्मरुद्रदशयोरभिव्यज्येते । स्तुता चेयं परविमर्शाख्या चितिशक्तिः श्रीशङ्कराचार्यमहोदयैरेवं सौन्दर्यलहर्याम्—

जगत् सूते धाता हरिरवति रुद्रः क्षपयते
तिरस्कुर्वन्नेतत् स्वमपि वपुरीशस्तिरयति ।
सदापूर्वः सर्वं तदिदमनुगृह्णाति च शिव-
स्तवाज्ञामालम्ब्य क्षणचलितयोर्भ्रूलतिकयोः ॥(सौ. ल २४)

तिरस्कुर्वन्नितिपदेन निग्रहकृत्यमेव पिधानाख्यमत्र निर्दिष्टम् । श्रीधर्माचार्यमहोदयेनाऽप्येवमेव स्तुता भगवती श्रीपञ्चस्तव्याम्—

विरिञ्च्याख्या मातः ! सृजसि हरिसंज्ञा त्वमवसि
त्रिलोकीं रुद्राख्या हरसि पिदधासीश्वरदशा ॥
भवन्ती सादाख्या शिवयसि च पाशौघदलिनी
त्वमेवैकाऽनेका भवसि कृतिभेदैर्गिरिसुते ॥(५/२३)

निग्रहानुग्रहप्रसङ्गे नैवैतयोः पद्ययोः सृष्टिस्थितिसंहारा अप्युदाहृताः । तदेतत्कृत्यपञ्चकाधिष्ठातृत्वमेव सदाशिवेश्वरादिकारणपञ्चकत्वं भगवत इत्यलमवान्तरेण । प्रकृते ज्ञानक्रिययोरपि मूलभूता भगवतीच्छाशक्तिः ज्ञानक्रिये हि तस्या एव बीजकल्पाया दलकल्पे । तदेतत्त्रिरूपस्य शक्ति-

त्रयस्य कर्मत्रयं समुदितम् । तथाहि– इच्छाशक्तिरूपत्वेन भगवतीच्छति । न चैतदेषणं तस्या विषयनिष्ठम् । न हि किमपि वाह्यमात्मसात् कर्त्तुमिच्छति । तस्या हि परिपूर्णाहंमहोरूपत्वाद् ब्रह्मत्वेनाऽपरिमितत्वाच्च किमपि न बाह्यम् । सर्वमपि तस्यामेवान्तर्विभाति । सर्वं च भासनं सैव वस्तुत: । ततो नाऽपूर्णम्मन्यताप्राणा विषयोन्मुखी तस्या इच्छा, अपि तु स्वात्मचमत्करणोन्मुखत्वमेव तस्या एषणम् । विश्वोल्लासनविलापनादिस्वभावा ह्यसौ प्रतिपादिता । तदस्या विश्वोल्लासनादिस्वभावोन्मुखश्चमत्कार एव एषणम् । येनाऽनुपादानसहकारिकमेव सद्य एव सदाशिवादिपृथिव्यन्तस्य विश्वस्य बाह्यतयाऽवभासनादि संजायते, तत आत्माऽभिव्यक्ति प्रत्युल्लासविशेष एवायं'इच्छति' इतिशब्देन प्रतिपादित: । एवंभूतेयमिच्छारूपिणी भगवती सावधानै: साधकै: स्वसंवेदनेनैव साक्षात्कर्त्तव्या । शाब्द्या कल्पनया विकल्परूपया अविकल्पायास्तस्या: स्वरूपप्रतिपादनं कियत् क्रियेत ? 'अवैति'=जानीते । 'कुरुते'=स्वात्मानमेव कुरुते । स्वचमत्कारार्थमेवेति न पराऽभिप्रायमत्र क्रियाफलमित्यात्मनेपदम् । अवैतीति ज्ञानशक्त्युल्लासं करोति । 'कुरुते'इति क्रियाशक्त्युल्लासं सम्पादयति । सदाशिवादिसोपानक्रमेणावतरन्ती परिमितं स्वात्मनो भिन्नतया वेद्यं घटादिकं विषयं जानन्तं कुर्वन्तं च पशुप्रमातारं प्रकटयति । तथैव च परिमितप्रमात्रपेक्षया भिन्नतया वेदनीयं सम्पादनीयं च घटादिकं विषयं प्रकटयति । सदैवाऽभेदेन वर्त्तमानाऽप्यनुपपद्यमानमिव तदैश्वर्यवशादेवोपपद्यमानं ज्ञातृज्ञेयभावं कर्तृकार्यभावं च प्रकटयन्ती भगवती जानीते कुरुते च । "अहमिदम्"इति विमर्शसारायां सदाशिवेश्वरभुवि ज्ञानक्रियाशक्त्योरभिव्यक्तिर्भवति सिद्धानामिति हि प्रतिपादितम् । तत्रैव भेदाभेददशायां भेदसारतयाऽभिव्यज्यमानस्य ज्ञातृज्ञेयभावस्य सम्पादकसम्पादनीयभावस्य च स्फुटस्य बीजम् । यथा ज्ञानक्रिययोरिच्छा बीजं तथैव ज्ञानशक्तिप्रधानत्वेऽहन्तायां विश्राम्यतीदन्तेत्यहन्ताया एव प्राधान्यम् । क्रियाशक्तिप्रधानत्वे त्विदन्तैव प्रधानतां भजते । अहन्तायास्तस्या विशेषणत्वेनावभास इति हि ज्ञानक्रिययोर्विशेष: । एतच्छक्तित्रयमेव

प्रपञ्चोल्लासनस्य बीजम्। एतेषामपि मध्ये प्रथमा द्वितीयतृतीययोर्बीजमिति यदुक्तं तदपि स्वसंवेदनासिद्धत्वेनाऽऽगमेषूपदिष्टम्। लोकेऽपि हिजनः प्रथममिच्छति यदिच्छति तज्जानात्यवश्यमेव। विषयस्य ज्ञानं विनेच्छाया असम्भवः। जानातीत्यत्रापीच्छा वर्त्तमानैव। नहीच्छां विना ज्ञानेऽपि प्रवृत्तिः। ततः प्रथमं ज्ञातुमिच्छति तत इच्छन्नेव जानातीति ज्ञानव्यापित्वमिच्छायाः, तत इष्टं ज्ञातं च विषयमिच्छन्नेव जानन्नेव च करोतीति क्रियायामिच्छाज्ञानशक्ती व्यापिके। यच्च जानातीति ज्ञानं तत्राऽपि धातुवाच्या क्रियाऽनुस्यूतैव तथैवेच्छतीत्यत्रापि। ततः क्रियापीच्छाज्ञानयोर्व्यापिका। एषणेऽपि हि इष्टस्यैषणक्रियायाश्च प्रकाश अस्त्येवेतीच्छायामपि प्रकाशरूपं ज्ञानमस्त्येव। इत्थं च त्रयमपीदमिच्छाज्ञानक्रियारूपं परस्पराऽनुस्यूतमेव संवेद्यते वस्तुतः। तथापि शास्त्रप्रतिपादनार्थमवरोहक्रमप्रदर्शनार्थं चेच्छादित्रयस्य पूर्वपूर्वप्राधान्यमुपपादितम्। वस्तुतस्त्वभिन्नैव सर्वास्ववस्थासु भगवती शक्तिरित्यस्त्वेतावदेव। अतिगहनत्वाद्रहस्यभूतत्वाच्चाऽस्य विषयस्य। निजश्रीगुरुवदनाऽरविन्दत एव समधिगम्यं हि रहस्यं तत्। प्रकृते तु स्पष्टमेव यद्भगवती स्वात्माभिन्नमेव जगद् भेदभावोल्लिलासयिषयेच्छति, ततो जानीते, ततः कुरुते। यतो हि निग्रहानुग्रहात्मकविश्वोल्लासनविलापनात्मकक्रीडामय्यसौ। स्वात्माऽभिन्नो हीच्छादेर्विषय इति हि 'अहम्महः इच्छत्यवैति कुरुते' इति पदसंगत्या स्फुटमेव प्रतिपाद्यते। अहम्महः=इति कर्मभूतम्। स्वं तेजः, स्वमैश्वर्यं, स्वकीयं प्रकाशविमर्शात्मकं धाम एवेच्छति, जानीते, कुरुते च। न परं भिन्नं वा किमपि। स्वस्वभावाऽभिव्यक्तिमेवेच्छति, ततस्तस्याऽभिव्यक्तित्वेन प्रकाशमाना तामभिव्यक्तिमपि प्रकाशमानां करोतीति सर्वथाऽद्वैतरूपमिदमिच्छाज्ञानक्रियात्मकं विलसनं स्वसंवेदनसंवेद्यं प्रबुद्धानां कृते। अप्रबुद्धानामत्राधिकाराभावात्तेषां कृते प्रतिपादनमप्रतिपादनं वोभयं तुल्यमित्यलं विस्तरेण॥३॥

[प्र०] (सा) स्वयंसिद्धा=न तु केनाप्यन्येन साधिता। त्रिकालाबाधिता। भगवती अष्टविधैश्वर्यसम्पन्ना। ब्रह्मशक्तिः=

ब्रह्मणः शक्तिर्ब्रह्मैव शक्तिर्वा, बृहत्त्वात् । (सैव) अहम्महः = अहम्प्रकाशा आत्मसत्ताप्रतीतिरूपा वर्णसमाम्नायबोधस्वरूपिणी वाङ्मयप्रकाशा आत्मशक्तिः । निग्रहानुग्रहात्मिका सती इच्छति अवैति, कुरुते (च) ।

एष इच्छा-ज्ञान-क्रियाणाम्प्रकाशः प्रतिप्राणिहृदयेऽनुभूयमानः तस्यामेव न ततोऽन्यत्र कचित् । तद्भिन्नस्य पदार्थस्य जीवस्य वा सत्तैव नास्ति । अतः "अहमिच्छामि अहं जानामि, अहं करोमि, त्वमिच्छसि, त्वं जानासि, त्वं करोषि, एष इच्छति, एष जानाति एष कुरुते" इत्यादिव्यवहारविषया या विभ्वी प्रतीतिः सा तस्यामेव आत्मशक्तौ वर्त्तते । सर्वस्याऽस्यास्य व्यवहारस्य एककर्त्तृकत्वं दिशत्याचार्यः । इत्थं च नानारूपधरा एकैव साऽस्य व्यवहारत्रयस्य कर्त्री, इदं त्रितयमपि समकालमेव धत्ते । नित्यम्प्रतिक्षणमेतद्रूपत्रयधरा कारण-सूक्ष्म-स्थूलरूपैः स्फुरति ।

'निग्रहानुग्रहात्मिका' इति तस्या दण्डानुकम्पारूपत्वं प्रतिपाद्यते । निग्रहश्चानुग्रहश्चेति द्वन्द्वसमासेन तदात्मिका तत्स्वरूपा । परमत्रास्ति विप्रतिपत्तिः,एतस्मिन् त्रितयेऽन्यतमस्य निग्रहत्वमनुग्रहत्वं नास्ति निर्दिष्टम् , कुतस्तदवधारणं भवेत् ? अपि च 'इच्छत्यवैति कुरुते' इतित्रितयस्य समकालमेव प्रवर्त्तमानता व्याख्याता, ततः परस्परविरुद्धयोर्निग्रहानुग्रहयोरेकत्र समकालमवस्थितिः कथम् ?

अत्रेदं बोध्यम्—नानारूपधरा हि सा क्वचि दिच्छन्ती अन्यत्र जानानाऽपरत्र कुर्वाणा कचिदेकत्र निगृह्णाति अपरत्र चानुगृह्णाति । एवमेकस्मिन्नेव काले विश्वरूपायां तस्यां निग्रहाऽनुग्रहयोरवस्थितिः सुसङ्गतैव । तथाऽपि वस्तुस्थितिरियं न विस्मर्तव्या । यत् — निग्रहानुग्रहौ तस्या अवस्थाविशेषौ काल्पनिकावेव, यतः सापेक्षौ । निग्रह एव अनुग्रह इति निग्रहानुग्रहस्तदात्मिका इति व्याख्यानं साधु । इत्थं च निग्रहानग्रहयोरभेदे

निग्रहोऽप्यनुग्रहः, अनुग्रहोऽपि च निग्रह इति स्पष्टं भवति ।

दृश्यते हि व्यवहारे पिता गुरुर्वा बालं दण्डयन्ननुगृह्णाति तद्दोषपरिहारेण । अत्र दण्डोऽप्यनुग्रह एव । कश्चिद् दुश्चरितः स्थूलदृशा बालमुत्पथगामितायां सौकर्यसम्भारेणानुगृह्णन्नपि निगृह्णात्येव तच्चरितविनाशनेन ।

अपि वा एकस्य निग्रहोऽपरस्याऽनुग्रहो भवति । दुश्चरितान् दण्डयन् हि नरपतिः साधूननुगृह्णाति । एतेनापि उभयोरेकरूपताऽविसंवादैव ।

इत्थमपि वाऽऽलोचयन्तु भवन्तः -- असमानाऽऽयामासु तिसृषु मध्यमा भवति रेखा ह्रस्वाऽपि दीर्घाऽपि च । तस्या ह्रस्वतादीर्घते सापेक्षे अतः काल्पनिके । तद्वत् विषयेऽस्मिन् सर्गे तस्या आपेक्षिकौ निग्रहानुग्रहौ अनवरतं स्फुरतः । इमौ निग्रहाऽनुग्रहौ तस्यां काल्पनिकौ, न तु वस्तुतः स्तः । 'अहम्महः'=सा हि अहम्महोरूपा प्रकाशते । 'अहम्' इति कृतव्याख्यानं प्रथमकारिकाद्वयीव्याख्यानावसरे । 'महः'प्रकाशः । 'अहमेव महः' इति 'अहम्महः' अहम्प्रकाशेत्यर्थः । एतदस्ति सामान्यं व्याख्यानम् । अयमत्र विशेषः—

'अहम्' 'महः' इति पदद्वयी हि विमर्शप्रकाशरूपा । प्रथम मव्ययपदं द्वितीयं च 'महस्' इति सकारान्तम् । अत्रेदमुभयमपि अभिन्नं पदम् । 'अहम्'इत्येव विपर्ययेण 'अ+ह्+अ+म्' इत्यस्य 'म्+अ+ह्+अ' इत्याकारेण 'मह' रूपं लभते । एनयोः प्रथमं बिन्दुनाऽपरं च विसर्गेण सनाथम् । तेन पूर्वत्र बिन्दुशक्तिः उत्तरत्र च विसर्गशक्तिः । एकमेव तत्त्वं यदृच्छया बिन्दुशक्तिं, समालिङ्ग्य विश्वमिदं संहरति पुनश्च विसर्गशक्तिप्रस्फोटेन सृजति । बिन्दुशक्तिः संहृतेर्विसर्गशक्तिश्च सृष्टेर्बीजम् । इदं च सर्वमपि अहंरूपं वाङ्मयं तदितरद् वा यत्किञ्चित्प्रकास्ति विलीयते च

तत्सर्वं अहम्महोरूपमेव ।

अनुस्वारविसर्गयोर्लयसर्गशक्ती व्यवहृत्यां सर्वेणाप्यनुभवितुं शक्येते । एतयोरुच्चारणं तावत्प्रथमतो विचारविषयी क्रियताम् । एष हि बिन्दुः उच्चार्यमाणो वक्तुमुखं संवृणोति अन्तर्लीनतांच क्रमशो भजते । विसर्गस्तु न तथा । अपि तु तद्विपरीतः । उच्चार्यमाण एष वक्तुमुखं विवृणोति नादं च विस्तारयति । इत्थमुभाविमौ स्वरमात्राश्रयौ स्वे स्वे कर्मण्यभिरतौ तिष्ठतः ।

एतेन सुस्पष्टमिदं भवति यद् एक एव 'अह' इति पदार्थो बिन्दुसनाथो विमर्शरूपेण विसर्गाभिद्रुतश्च प्रकाशरूपेण चकास्ति ।

बिन्दुर्हि विसर्गशक्तिमात्मनि सङ्कोप्य तिष्ठति इति सर्वत्र सर्गे पश्यामः । सर्वमपि बीजजातं प्रस्फुटितं सद् द्रुमगुल्म-लतादिकमाविर्भावयति, तदेव च पुनः सर्गरूपे द्रुमादौ पुनः फला (कार्या)न्तः स्वं रूपं लभते । इत्थं बिन्दुविसर्गयोर्बीजफलयोरिव चक्रमविरतं परिभ्रमति ।

'बिन्दुसमानाकृति तद्रूपमेव वा परिमण्डलं, अखिलं विश्वं सृजति पुनश्च परमाणुमात्रमवशिष्यत' इति न्यायविदां सम्मतम् ।

अपि च — इदं जीवजगत्प्रतीतिगोचरः यदप्यस्ति तत्सर्वं बिन्दुजन्मैव । बिन्दुप्रतीकेष्विव अण्डेषु अन्तर्लीना अण्डजशावकाः कस्य न बोधविषयाः ?

अन्यच्च—रेखादिगणितशास्त्रेषु बिन्दोरियं सुगूढा शक्तिः सुस्पष्टाऽवलोक्यते । रेखागणितविशारदा बिन्दुमेकत्र स्थापयित्वैव विविधा आकृतीर्निर्मान्ति । न हि बिन्दुमन्तरा तेषामणुतमाऽपि गतिः । इदं वृत्तमेव सर्वासामाकृतीनां मूलं समुदायो वा । सर्वा अप्याकृतयोऽस्यांशा एव । वर्णलिपिरपि सर्वा बिन्दुमूलैवेति वक्ष्यत्याचार्यः ।

तथा च—अद्यत्वे लिपिषु पूर्णविरामचिह्नं बिन्दुरेव। तन्मूला तत्सङ्घातरूपा ऊर्ध्वरेखा (।) वा प्रयुज्यते। वक्तुर्विवक्षाम्प्रस्तारयत् निर्देशचिह्नं विसर्गान्तःप्रवृत्तया(:—) इत्याकारया रेखया व्यज्यते। इत्थं बिन्दौ संहारशक्तिर्विसर्गे च विस्तार(सृष्टि)शक्तिः सुस्पष्टमुपलभ्यते समेषु व्यवहारेषु।

सूक्ष्मेक्षिकयाऽऽलोचने तु वस्तुस्थितिरितोऽपि सुस्पष्टतरा भवति। ततश्च एतदायाति यद् उद्भवसंहृती शक्ती एकत्रैव समकालमेव च बिन्दौ विसर्गे च विद्येते। बिन्दुर्हि उद्भूतसंहृतिशक्तिर्निगूढसृष्टिसामर्थ्यश्च भवति। विसर्गस्य तु तद्विपरीता स्थितिः। एवमुभयमपि सामर्थ्यमुभयत्र लभ्यते।

अयमेव भावः श्रीजगदम्बां पार्वतीं प्रत्युक्ते श्रीशिववचने स्फुरति—

अहमग्निशिरोनिष्ठस्त्वं सोमशिरसि स्थिता।
अग्नीषोमात्मकं विश्वमावाभ्यां समधिष्ठितम्॥

जगदिदमाप्यायनसामर्थ्येन सोमरूपेण वितन्यते। समेध्यते च। शोषण (सङ्कोचन) शक्त्या अग्निरूपया संह्रियते विलाप्यते च। अत एव अग्नीषोमात्मकं विश्वमिदम्। 'सर्वोऽपि द्वन्द्वजा सृष्टिः' इति सर्वविदितम्। 'पाजिटिव-नैगेटिव' पदद्वयप्रयोगेण एकैव शक्तिः पृथक् पृथक् रूपद्वितयेन साम्प्रतिकैर्भौतिकविज्ञानपण्डितैरपि व्यवह्रियते। उपरितनेऽस्मिन् पद्ये भगवता स्पष्टमेवोक्तं यत्— सोमः (उमया सहितः) शिवः अग्नितत्त्वमधितिष्ठति। स हि शिवः शान्तोऽपि निगूढाग्निशक्तिः। शिव एव काले रुद्रः संजायते। संजायते किमु? रूपान्तरेणैष एव स्फुरति। सा उमाऽपि अग्निरूपा अन्तर्निलीनसोमतत्त्वा विराजते।

इमौ शिवौ (शिवा च शिवश्च) जगतः पितरौ। इयं नारी एष पुरुषश्च तद्गुणाधिष्ठितौ। पश्यामो वयम्— पुरुषबीजं शुक्रं

शुक्लं प्रकटसौम्यं च भवति; अन्तस्तु दाहशक्तिविराजितं भवति। नार्या रजश्च रक्तवर्णमग्नितत्त्वविलसितं निगूढसौम्यभावं च भवति। अन्यथा अग्नितत्त्वमात्रे सोमशक्तिविधुरे च तस्मिन् गर्भस्याप्यायनं न भवेत्। चण्डस्वभावापीयं हृदये वात्सल्याप्लाविता जगतः पालनं कुरुते।

तत्त्वतस्तु द्वैतमत्र कल्पितमेव। एक एव बिन्दुरपरमाविर्भाव्य विसर्गसर्गं कुरुते। एतदेवास्य पूर्णत्वं यत्तस्मादेवानन्तान् बिन्दूनुद्भाव्य पुनरात्मन्येव विलापयति। न च क्षणमपि स्वरूपाद्विच्युतो भवति। एतच्च 'रेखा बिन्दुं लिपी रेखाम्' इति कारिकाव्याख्यानावसरे वैशद्येन स्फोटयिष्यते।

अपि च—यथैकं बीजं अन्तर्निहिताऽनन्तबीजं पादपरूपेणात्मानं प्रदर्श्य अनन्तरूपं संजायते; यथा चैष पुरुषः स्वबिन्दुनाऽऽत्मसमानरूपां सन्ततिं प्रस्तारयति, तथैव स मूलबिन्दुरपि। अत्र बोजफलयोः कार्यकारणभावो ह्यापेक्षिकः। उत्तरोत्तरं कार्यं जलवीचिन्यायेन कारणतां भजते।

स्वयंसिद्धा='निसर्गतो निरपेक्षसिद्धे'ति सारार्थः। तथाप्यत्र बोधवैशद्याय विचारणाऽपेक्ष्यते। यद्यपि 'सिद्धा'पदेनैव ज्ञायते 'नान्येन साधिता' इति तथापि 'सिद्ध ओदनः' 'सिद्धा यवागूः' इत्यादिगौणव्यवहारशङ्कापरिहारार्थं स्वयम्पदोपादानम्।

ब्रह्मणः स्वरूपाऽवबोधाय श्रुतिभिरागमैश्च बहुशः प्रयतितम्। पूर्वैराचार्यैरपि विविधाः शैल्यः समाश्रिताः। तासां सरलाऽतिसरला पद्धतिर्हि **गौडपादानाम्**। यथा—

इह हि चतुर्धा निर्देशः पदार्थस्य। 'अस्ति' इत्येकः, 'नास्ति' इत्यपरः, 'अस्तिनास्ति' इत्यन्यः, 'नास्तिनास्ति' इति च तथापरः। एताश्चतस्रः कोटयो जीवभावं यावत् स्पृशन्ति। अत ऊर्ध्वं यदप्य-

स्ति चतुष्कोटिनिर्मुक्तं तदेव ब्रह्म। तथा हि माण्डूक्यकारिकायां भगवन्तो गौडपादाः—

> अस्ति नास्त्यस्तिनास्तीति नास्तिनास्तीति वा पुनः।
> चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥

'एभिरतात्त्विकैर्व्यवहारैर्मूढो जनस्तस्य ब्रह्मणो वास्तविकं स्वरूपं सञ्छादयति' इत्युक्तं भवति।

"अथ कोऽयं बालिशः?" इत्यस्ति जिज्ञासा। यदा ब्रह्मव्यतिरिक्तं नास्त्येव किञ्चित्, तदाऽन्यस्य बालिशस्य कथैव कुतः? किं न ब्रह्मैव बालिशम्?

अन्यच्च — 'अस्ति नास्ति' इत्यादिनिर्देशः प्रथमपुरुषैकवचने तस्य निर्दिश्यमानस्य परोक्षत्वं न प्रतिपादयति किम्? वक्तुर्भिन्नस्यैव निर्देशे प्रथमपुरुषप्रयोगः। एवं च ब्रह्मणोऽस्तित्वं तद्भिन्नज्ञानसापेक्षमेव। किं नेत्थं तस्य सत्ता साधिता भवति? न तु सिद्धा स्वयंसिद्धा वा। वस्तुतस्तु तद् ब्रह्मैव स्वात्मानं वेत्ति 'अस्मि' इति प्रतिपद्यते च। मां कश्चिज्जानीयान्नो वा जानीयात्, नास्ति मेऽस्तित्वे किमप्यन्तरम्। 'अस्मि' इतिबोधः सर्वस्य सार्वकालिकः कदाचिदुद्भूतोऽनुद्भूतश्च कदाचिद् भवति हि। अत एव प्रस्तुतश्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रप्रणेतृभिः श्रीमदाचार्यपादैः स्वकीये श्रीमहाऽनुभवशक्तिस्तवे—

> "अस्मीतिमात्रभरिताऽखिलविश्वभावा"
> इत्येवंरूपेण स्तुता भगवती ब्रह्मशक्तिः।

अस्मीतिप्रतिबोधगोचरः स्वयंसिद्धं तत्त्वमेव ब्रह्म। तदेव ब्रह्मशक्तिः। तामेव विशिनष्टि — 'स्वयंसिद्धा' इति।

एतदप्यत्र बोद्धुमुचितम्। यद् — 'अहम्,महः' इतिद्वयी

ज्ञानक्रियाशक्तिस्वरूपिणी इच्छाशक्त्यनुप्राणिता विलसति । इमां त्रिवेणीमन्तरा नात्र किमपि वर्त्तते । ज्ञानक्रिये सर्वस्य प्रतीतिजन्ये । इच्छा तु अनयोर्मूले स्थिता विरलस्यैव लब्धाध्यात्मचक्षुषो दृग्गोचरा भवति । येयमिच्छा सर्वेण स्वस्वहृदयेऽनुभूयते सा वासना खलु, न तु इच्छा । "एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय" इति कारणभूता इच्छैव वस्तुतो जगत्स्रष्ट्री ।

पश्यामो जगति यत् सूत्रत्रयं ग्रथितं सुनिपुणं निरीक्ष्यमाणमपि सूत्रद्वयाऽवभासं धत्ते । स्त्रीणां ग्रथिता वेणी सुस्पष्टमत्र निदर्शनम् । प्रयागराजविराजितः सङ्गमोऽपि एतत्प्रतिरूपम् । ज्ञानस्थानीया भागीरथी क्रियारूपया कालिन्द्या सङ्गच्छमाना सर्वस्यापि जीवस्य बोधे तिष्ठति । परं सुसूक्ष्मा इच्छास्वरूपिणी सरस्वती कस्य प्रत्यक्षं परिगता ? सा हि सुगूढं वहति । एषा हि अध्यात्मत्रिवेणी परमपावनी अन्तर्दृशा पश्यतो मज्जत उपस्पृशतश्च अशेषकल्मषध्वंसकारिणी तस्मै कैवल्यं ददाति ।

अपि च — इच्छाप्रतिरूपया वासनया परिगते ज्ञानक्रिये त्रिपुरम् । एतस्य सर्वस्य असुषु रतत्वादेव असुरत्वम् । सोऽयं त्रिपुरासुरो भौतिकदृष्टिरशान्तिहेतुः । तस्य विनाशेनैव जगतः प्रशमः । शिव एवाऽस्य संहर्ता । अतः स एव विवेकद्वारेणाऽभ्युपगन्तव्यः । एष शैवदर्शनाभिप्रायोऽपि पौराणिकेन त्रिपुरासुरवधेनाऽनुसन्धेयः ।

सम्प्रति पुनः कारिकायामस्यामाचार्यस्य सूसूक्ष्मानभिप्रायानालोचयितुं प्रयतेमहि । ते चाऽभिप्राया अन्वयभेदेन स्फुरिष्यन्ति । तथाहि —

१/(३) स्वयंसिद्धा निग्रहानुग्रहात्मिका भगवती शक्तिः अहं (कर्म) ब्रह्म (कर्म) महः (कर्म) इच्छति, अवैति, कुरुते (च) वाक्यान्यष्टाविंशतिः ।

२/(३) स्वयंसिद्धा (निग्रहानुग्रहात्मिका) ब्रह्मशक्तिः अहं (कर्म) महः (कर्म) इच्छति, अवैति, कुरुते (च) ।

(३) स्वयंसिद्धा.........ब्रह्मशक्तिः महः (कर्म) अहं (कर्म) इच्छति, अवैति, कुरुते (च) ।

(३) स्वयंसिद्धा.........ब्रह्मशक्तिः अहं (कर्म) इच्छति, अवैति, कुरुते (च) ।

(३) स्वयंसिद्धा.........ब्रह्मशक्तिः महः (कर्म) इच्छति, अवैति, कुरुते (च)

३/(३) स्वयंसिद्धा.........अहं शक्तिः ब्रह्म (कर्म) महः (कर्म) इच्छति, अवैति, कुरुते (च) ।

(३) स्वयंसिद्धा.........अहं शक्तिः महः (कर्म) ब्रह्म (कर्म) इच्छति, अवैति, कुरुते (च) ।

(३) स्वयं सिद्धा.........अहं शक्तिः ब्रह्म (कर्म)इच्छति, अवैति, कुरुते (च) ।

(३) स्वयंसिद्धा.........अहं शक्तिः महः (कर्म) इच्छति, अवैति, कुरुते (च) ।

४/(३) स्वयंसिद्धा.........महः शक्तिः अहं (कर्म) ब्रह्म (कर्म) इच्छति, अवैति, कुरुते (च) ।

(३) स्वयंसिद्धा.........महः शक्तिः ब्रह्म (कर्म) अहं (कर्म) इच्छति, अवैति, कुरुते च ।

(३) स्वयंसिद्धा.........महः शक्तिः अहं (कर्म) इच्छति, अवैति, कुरुते (च) ।

(३) स्वयंसिद्धा.........महः शक्तिः ब्रह्म (कर्म) इच्छति, अवैति, कुरुते (च) ।

५/(३) स्वयंसिद्धा.........अहं ब्रह्म शक्तिः महः (कर्म)

इच्छति, अवैति, कुरुते (च) ।

६/(३) स्वयंसिद्धा.........अहं महः शक्तिः ब्रह्म (कर्म) इच्छति, अवैति, कुरुते (च) ।

७/(३) स्वयंसिद्धा.........ब्रह्म महः शक्तिः अहं (कर्म) इच्छति, अवैति, कुरुते (च) ।

८/(३) स्वयंसिद्धा.........अहं ब्रह्म महः शक्तिः इच्छति अवैति, कुरुते (च) ।

इत्थमत्रान्वयप्रस्तारेण षट्सप्ततिवाक्यात्मको मुख्यो विलासः । सर्वत्राऽप्यत्र शक्तिमविकृतां पश्यामः । अहंब्रह्ममहोरूपाणि कर्तृत्वेन विधेयत्वेन च स्वाऽनुभूतिमवतरन्ति । अतः 'शक्तिः एव कर्त्री इतरत्तु सर्वमपि तद्विलासेनैव कर्तृत्वं कर्मत्वं च लभते ।

इयं वाक्यानां षट्सप्ततिका निग्रहानुग्रहात्मतया द्वैविध्यं गता द्वापञ्चाशदुत्तरैकशतमिता । एष तस्या विलासः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु गतः त्रेधा विततः षट्पञ्चाशदुत्तरां चतुःशतीं भजते । तदनु तदवान्तरभेदोपभेदैरर्थान्तरविलासैश्च प्रसृतोऽयं विलासो न सङ्ख्याया विषयः । अयमत्र सङ्ग्रहः—

स्वयंसिद्धेतिवाक्यानि रामायात्र भवन्ति वै ।
व्यवस्थाभेदतस्तानि मिलितानि तु चेशभा ॥१॥
शुद्धा शक्तिर्यदा कर्त्री दत्तकाः स्युस्तदा विधाः ।
ब्रह्मशक्तावहंशक्तौ महःशक्तौ तथैव च ॥२॥
कर्तृत्वं भजमानायां रससङ्ख्या पृथक् पृथक् ।
मिलिता साऽपि सर्वा तु चकारं जनयेत्तथा ॥३॥
अहम्ब्रह्म, महोब्रह्म, महोऽहम्, ब्रह्ममहस्तथा ।
अहमा सहितं चेति कर्तृत्वं विन्दते यदा ॥४॥

प्रत्येकं जापमासाद्य सा रासं विन्दते परम्।
रासलीला सलीलेयं चेशभान्तर्विराजते ॥५॥

अत्र 'रामाया' (१५२) 'चेशभा' (४५६) 'दत्तका' (१६८) 'रस' (७२) 'चकारं' (२१६)जाप(१८) 'रासं' (७२) 'चेशभा' (४५६) पदानि उल्लिखितसंख्याबोधकानि। सर्वमिदं जैमिनिपद्धत्यनुसारेणेत्यलमस्तु।

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
तृतीया कारिका।

—०***०—

[वि०] यै रूपैरियं ब्रह्मशक्तिर्निग्रहानुग्रहौ पशुजनविषये करोति तेषां स्वरूपप्रदर्शनपूर्वकं निग्रहाऽनुग्रहलीलाबीजं निरूप्यते तुर्येण पद्येन—

[प्र०] नामरूपमयेऽस्मिन् प्रपञ्चे सुगूढं स्थितां तामात्मशक्तिं विवेचयितुमाचार्यः प्राकृतजनस्याऽपि सारल्येन दृशमुन्मीलयितुं पुनराचष्टे—

शान्तैर्घोरैर्घोरतमैः स्वं रूपैर्नामभिश्च या॥
निगृह्णात्यनुगृह्णाति पिबन्ती स्वरसासवम् ॥४॥

[वि०] विश्वोत्तीर्णं हि यद् भगवत्या रूपं तत्त्वविकल्पमेव सुप्रबुद्धैस्तुरीयतदतीतदशयोः साक्षात्कार्यम्। तदेव यदोपदेशविषयीक्रियते, तदा विकल्पकल्पितैर्वैखरीरूपैः शब्दैरुपदिश्यमानं विकल्परूपतामिवाऽऽपाद्यमानं न परमार्थतया गमयितुं शक्यम्। ततो ह्याचार्याः सिद्धा ऋषयश्चासामान्यैः रहस्यार्थव्यञ्जकैः शब्दैरुपदिशन्ति। येन विकल्पस्पर्शांशो यथा शक्यं निवारितः स्यात्। तत एव विमर्श-संवित्-स्फुरत्तादिकमस्या नामतयाङ्गीकृतमपि शब्दात्मकमेव। ततोऽपि रहस्यतराणि नामानि तस्या

वीजाक्षराणि । परन्तु तान्यपि न सर्वथा विकल्पभूमिकोत्तीर्णानि । यतो ह्युपदेशाऽवसरे तेषामपीदन्तया निर्देशो वाचोच्चारणं, श्रोत्रेण च श्रवणं विधीयत एव । परमरुन्धतीन्यायेन तत्तथोपदिश्यते । उपदिश्यमानश्च प्रबुद्धो योगी क्रमेण सुप्रबुद्धतामवाप्य स्वसंवेदनेन यद्रूपं भगवत्याः साक्षात्करोति तत्तु नामरूपोत्तीर्णमेव शुद्धप्रकाशविमर्शघनं चकास्ति । यो हि भेदाभेदतया भेदमात्रतया वा तस्याः स्वभावोल्लासः, असौ नामरूपमय एव । ततो निग्रहाऽनुग्रहमयीं लीलां कुर्वाणा भगवती विविधैः स्वरूपैस्तदनुकूलैर्नामभिश्चाऽवभासमाना वर्त्तते । तेषां च रूपाणां नाम्नां च त्रयो वर्गाः शान्तघोरघोरतमाख्याः । अनन्तमिदं विश्वमनन्तैः रूपैः सञ्चालयति भगवती ब्रह्मशक्तिः। कैश्चिद्रूपैः स्वात्माऽभिन्नेष्वपि भेददशयाऽवभासितेषु भेददृष्ट्यैव च गृहीतेषु पशुप्रमातृषु निग्रहं कैश्चिच्चाऽनुग्रहं करोति । यैर्निग्रहं कुर्वती पशून्स्वरूपतिरोधानेनाऽधोऽधो विनिपातयति तानि रूपाणि घोरतमानि घोरतराणि वेत्युदाहृतानि । यै रूपैः पशून् स्वरूपप्रत्यभिज्ञानपूर्वकं शिवत्वमापादयति तानि शान्तानि वाऽघोराणि वेत्युच्यन्ते । यै रूपैः पशुभ्यः सांसारिकं सुखं वितरन्त्यपि क्रमेण तान्प्रत्यभिज्ञानं प्रत्युन्मुखान्करोति तान्यस्या रूपाणि घोराणीत्युच्यन्ते । आगमेष्वेतेषां क्रमेण वामा ज्येष्ठा रौद्रीत्यपि नामानि कथितानि । तथा चाहुराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तपादाः स्वकीये श्रीतन्त्रालोके —

वामा संसारिणामीशा प्रभुशक्तिविधायिनी
ज्येष्ठा तु सुप्रबुद्धानां वुभुत्सूनां च रौद्रिका ॥ (६/५६)
वामा संसारवमना ज्येष्ठा शिवमयी यतः ।
द्रावयित्री रुजां रौद्री रोध्री चाऽखिलकर्मणाम् ॥ (६/५७)इति ।

आगमेऽपि हि प्रोक्तम्—

अणुं स्वरूपदृग्वानं वामाऽधो विनिपातयेत् ।
रौद्री सांसारिकाऽऽनन्दं कदाचिद्वितरेदपि ॥
ज्येष्ठा स्वातन्त्र्यलेशं च तनुते ज्ञानकर्मणोः ।

तदियं शक्तिर्भगवती नामरूपतयाऽवभासमानेऽत्र संसारे स्वयं नामरूपोत्तीर्णाऽपि सती शान्तघोरघोरतमरूपैस्तन्नामधेयैश्च स्वरूपैः स्वात्मानमेव पशुजनरूपतयावभासमानं निगृह्णात्यनुगृह्णाति च । स्वमित्यनेनैवैतत्प्रतिपादितं यत् 'पशुप्रमाताऽप्यस्याः स्वमेव रूपम्' इति । श्रीकुलशेखरेण कृतप्रशंसेऽघोराख्ये मन्त्रेऽपि शिवस्याऽघोरादीनि रूपाणि नमस्कृतानि । स चाऽघोरमन्त्रो यथा नारायणीयोपनिषदादौ—

अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः ।
शर्वेभ्यः शर्व सर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः ॥ इति ।

सर्वतः सर्वशर्वेभ्यः इति श्रीस्वच्छन्दपाठः । कुत एवंप्रकारनामकैरेवंभूतैः स्वस्य रूपैः स्वात्माभिन्नं प्रमातृवर्गं निगृह्णात्यनुगृह्णाति वेत्यपेक्षायामाह — 'पिबन्ती स्वरसासवम्' इति । स्वरसरूपं स्वात्मचमत्काराख्यं स्वमानन्दमेवाऽऽसवं पिबन्ती यतोऽस्ति, तत एवं करोतीति भावः । अथवा स्वरसा = स्वः आत्मीय एव रसो यस्याः सा, स्वचमत्कारेणैव माद्यन्ती, आसवं स्वात्मचमत्कारासवं पिबन्ती, आसवास्वादेन माद्यन्ती, तत एव घूर्णमाना सती निग्रहाऽनुग्रहलीलायां प्रवृत्ता भवति । स्वस्य रसः स्वरसः आत्मनश्चमत्कारः। अथवा स्वात्मैवास्या रसरूपः चमत्काररूप इति कर्मधारयेण 'स्वरसा' पूर्णस्वतन्त्रा सती आसवं व्याख्यातरूपं पिबन्तीति । स्तुतश्चैवं परमेश्वरः श्रीमदुत्पलदेवाऽऽचार्येण शिवस्तोत्राऽऽवल्याम् —

यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे
तत्समुल्लसति भावमण्डलम् । इति

या भगवत्येवं निगृह्णात्यनुगृह्णाति च तस्या इयमित्यग्रिमेण पद्येन सम्बन्धः । इयमिति हि पदं तत्पदस्य स्थाने, ततोऽपि यत्पदस्य निराकाङ्क्षता । अथवा यैवं निग्रहाऽनुग्रहकर्त्री सा अत एव हेतोर्निग्रहाऽनुग्रहात्मिका सतीच्छत्यवैति कुरुते इति पूर्वेण संबन्धः। एतत्पक्षे पूर्वस्मिन् वाक्ये तत्पदाऽध्याहारः शक्यते कर्तुम् ॥४॥

[प्र०] या=पूर्वपरामृष्टा आत्मशक्तिः। स्वरसासवम्=स्वरसस्य आत्मानन्दस्य आसवं रसविशेषम् । स्वरस एव आसवः सोमः तद्विशिष्टो यज्ञो वा तं स्वरसासवं पिबन्ती शान्तैः घोरैः घोरतमैः रूपैर्नामभिश्च स्वं आत्मानं निगृह्णाति अनुगृह्णाति (च)। 'सैव आत्मशक्तिः' इति शेषः ।

सर्वोऽप्येष सर्गो नामरूपात्मक एव । न हि रूपनाम्नी अन्तरा अन्यदस्ति किमपि लौकिकं व्यावहारिकं वा पदार्थजातम् । 'पूर्वं रूपस्य प्रादुर्भावः तदनु च तस्य नाम्ना व्यवहारः' इति रूपस्य नाम्नि लयः सर्गे । संहृतौ च नाम्नो रूपे (विलयः) रूपस्य च आत्मतत्त्वे विलयो भवति । इत्थं सर्गेण अनुगृह्णाति संहृत्या च निगृह्णाति साऽऽत्मशक्तिः । अथवा निग्रहाऽनुग्रहयोः परस्परव्यापित्वं पूर्वं प्रतिपादितम् । नामरूपाभ्यामेव तस्याः सर्वोऽयं प्रपञ्चः प्रसरति । तस्या निग्रहानुग्रहयोर्विषयः सा स्वयमेव, नत्वन्यः कश्चित् । तदितरस्य सत्त्वैव नास्ति खल्विति । तस्या निग्रहानुग्रहयोः सापेक्षताप्रदर्शनाय आचार्यो रूपाणि नामानि च 'शान्तैर्घोरैर्घोरतमैः' इति विशिनष्टि । यानि शान्तानि घोराणि घोरतराणि घोरतमानि वा रूपाणि नामानि च स्फुरन्ति, तानि तस्या एवात्मविलासः । तेषु शान्तत्वादिकं सर्वं काल्पनिकम् । अतस्तत्सापेक्षमसिद्धं च । तस्याः स्वात्मानन्दनिर्भरतां च व्याचिख्यासुः 'पिबन्ती स्वरसावम्' इत्याह । स्वरस आत्मानन्दः आसूयतेऽस्मिन्निति तथाभूतं कमप्यनिर्वचनीयं स्वरसासवं पिबन्ती स्वदमाना । अपिवा—आसवेन मद्येन सहितः इति सासव आनन्दविशेषः। स्वरो नादरूप एवाऽसौ सासव इति स्वरसासवः तं पिबन्ती । अन्यच्च — असासवं=आसवरसवर्जितं स्वः=स्वर्गं पिबन्ती= संहरन्ती स्वविलासेनैव शान्तानि घोराणि घोरतमानि वा रूपाणि नामानि च असन्त्यपि स्फुरणगोचरतां नयति ।

अत्रेदमाकूतम् — अशेषेऽस्मिन्नामरूपव्यावृते सर्गे नास्ति नानात्वम् । एकमेवाऽखण्डं तत्त्वं सुविभाति । परं तस्यैव आत्मानन्दप्रयोजनया शिशोर्लीलयेव भङ्ग-बुद्बुद-वीचिविलासेनेव वा जलराशेः इदं वैचित्र्यं वैविध्यं चानुभूयते । अतो जिज्ञासुना सर्वमपीदं सुसूक्ष्मयाऽन्तर्दृशाऽऽलोच्य हर्षशोकादीनां वेगानतीत्य समत्वयोगे स्थेयम् । इयमन्तर्दृष्टिरेव सर्वशोकविनाशनी ।

"शान्तैर्घोरैर्घोरतमैः" इत्युक्त्वा "निगृह्णात्यनुगृह्णाति" इतिवचनं क्रमभङ्गदोषस्याशङ्कां जनयति । परं निर्मूलैव सा । शान्तत्वादीनामापेक्षिकतया शान्तस्याऽपि रूपस्य घोरत्वं सिद्ध्यति । यतो जीवभावं गत इन्द्रो वा स्यात् मानुषो वा स्यात् तिर्यग्योनिगतो वा स्यात्, सर्वोऽपि बन्धनगतो निगृहीत एव । तेषां च परस्परापेक्षया निग्रहानुग्रहौ व्यवहारविषयौ भवतः । तिर्यक्शरीरगतमपेक्ष्य इन्द्रमानुषौ नूनमनुग्रहविषयौ । अतस्तौ शान्तरूपनामानौ । तिर्यगादयः पुनर्घोररूपनामविषयाः । वस्तुतस्तु शिवभावमपेक्ष्य सर्वोप्येष प्रपञ्चो घोररूपनामैव । अतो न क्रमभङ्गः । ततश्च सर्वमपीदमुक्तं समञ्जसमेव ॥४॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
तुर्या कारिका ।

—०***०—

[वि०] पञ्चमेन पद्येन भगवत्याः सृष्ट्यादिकृत्यत्रयकर्तृत्वं महानुभवास्वादनं च प्रतिपाद्यते —

[प्र०] तस्या आत्मलीलां भूयो विशदयति —

सृजन्त्यवन्त्यदतीयमात्मनात्मानमात्मनि ।
नित्यं समरसानन्दा महाऽनुभवमश्नुते ॥५॥

[वि०] यांऽसौ स्वात्मानन्दे माद्यन्ती निग्रहानुग्रहौ करोति सेयमात्मानं स्वमाययैव भिन्नतयाऽवभास्यमानं वस्तुतः स्वतोऽभिन्नमेव भावजातं विश्ववैचित्र्यचित्ररूपं, स्वात्मन्येव समभित्तितलकल्पे विश्व-वैचित्र्यचित्राधारभूते, आत्मना=स्वस्वातन्त्र्येणैव न तूपादानसहकारि-प्रभृतिना हेत्वन्तरेण निरुपादानादिकमेवेति भावः । सृजन्ती परिमित-प्रभातृप्रमेयभावतयाऽवभासयन्ती, अवन्ती=तद्रूपतया कञ्चित्कालं स्थापयन्ती । अदती=सृष्टं स्थापितं जगत्स्वात्मनि संहरन्ती । नित्य-मेव न तु सृष्टयारम्भकाल एव । सततमेव हि शक्तिः काँश्चिद्भावान्सृ-जति, काँश्चित् स्थापयति, काँश्चिच्च विलयं नयतीति सृष्ट्यादयोऽस्या अनन्तेऽस्मिन् विश्ववैचित्र्ये सततगत्या चलन्त्येव । जीवदशायामपीयं चेतनारूपा शक्तिर्भावान् स्वात्मनः प्रकाशेनाऽवभासयन्ती तान् सृजति क्षणं च अवभासितान् विकल्पयन्ती तान् स्थापयति, ततस्तानन्तर्मुखतया विमृशन्त्येव स्वात्मविमर्शे लीनान् करोतीत्ययत्नसिद्धमेतत् । परं प्रबुद्धा-नामेवाऽसौ विषयो न साधारणजनानाम् । एवंविधे सृष्ट्यादावस्या यः स्वरसासव इति पूर्वमुक्त आत्मचमत्कारानन्दः, सोऽसौ तु समरसाकारः न हि सृष्ट्यानन्दोऽन्यः स्थित्यानन्दश्चापरः संहरणानन्दश्च तदितरः इति । एवं च न निग्रहानन्दोऽन्योऽनुग्रहानन्दश्चान्यः इत्युपलक्ष्यते । ततः पञ्चस्वपि कृत्येषु न केवलं त्रिष्वेव भगवत्या आत्मानन्दः समरसाकारो विभावादाविव शृङ्गारादिरसास्वादः । समरसः आनन्दो यस्या इति बहुव्रीहिः । एवं सती भगवती महान्तमनुभवमश्नुते व्याप्नोति । न समा-सादयतीति भावः । ननु यस्तस्या विलासोऽयम्, असौ किं निर्विकल्पः सविक-ल्पो वाऽनुभवः । निर्विकल्पत्वे, न सविकल्प इति किञ्चिदङ्गविकल एव सविकल्पत्वे, संकेताधीनत्वात् पशुजनानुभवतुल्यः पूर्ववदङ्गविकलश्चापि । ततोऽस्या अनुभवोऽसौ महाननुभवः । महानिति ह्येवमुक्तं भवति, तादृ-शोऽसावपरिमितोऽनुभवो यदन्तरेवोभौ निर्विकल्पसविकल्पौ भासेते इति । तदेवं भगवती सृष्ट्यादिकृत्यानि कुर्वतीदृशं महानुभवमश्नुते=व्याप्नोति ईदृशस्याऽपरिमितस्य महानुभवस्याऽप्यसौ व्यापिकेति । अपरिमितं च

व्याप्तं चेति विरुद्धमाभासतेऽवश्यम्, परं पारमेश्वर्याः शक्तेः स्वातन्त्र्यविमर्शनेन सकलमपि निरवद्यमिति नैवंव्याख्याने दोषदृष्टिर्विधेया। अभेदसारत्वादस्य व्यापनव्यवहारस्य यदेव लोके दुःसमर्थमवश्यसमर्थनीयं च तदेव हि शक्तेः स्वातन्त्र्यविजृम्भितं मायेति भण्यते भेदबुद्ध्यवभासोऽपि मायेति कथ्यते, परं सा, अपरा। अस्याः स्वातन्त्र्यरूपाया मायाया भिन्नेत्यस्त्वेतावद्। यतोऽवान्तरमेतत्। प्रकृतमनुसरामः। अस्याश्च भगवत्या यः सृष्ट्यादिषु महाऽनुभवस्तत्र ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामपि समरसाकारमेकमेव रूपम्। ततः कारकशक्तीनां भेदनिमज्जनेनाऽप्यसौ समरसाकारोऽनुभवो महाननुभव इत्युपवर्णितः ॥५॥

[प्र०] (सा) इयं=प्रत्यक्षमनुभूयमाना। आत्मना=स्वेनैव साधनभूतेन। आत्मानं=कर्मस्थानीयं स्वम्। आत्मनि=स्वस्मिन्नधिष्ठाने। नित्यं=निरवच्छिन्नं कालं यावत् सृजन्ती=सर्गकर्मव्यापृता। अवन्ती=सृष्टस्य रक्षणे सक्षणा। अदती=संहरणपरा (च)। अत एव नित्यं समरसानन्दा = समभावस्थिताऽच्युतस्वरूपिणी। महानुभवं = सर्वानुभवातिगं महान्तमपरोक्षमनुभवम्। अश्नुते = व्याप्नोति, आत्मानं साक्षात्कुरुते वा।

'समरसानन्दा' समरे = एतद्विधे सङ्घर्षे सानन्दा, समरेण = युद्धेन सानन्दा इति वा। समरो हि मरणसहितः। अपि वा सम्यक् अरसे = नीरसेऽपि विषयेऽपि सानन्दा। अथ वा समेषु = अशेषेषु कट्वम्ललवणादिषु षट्सु शृङ्गारप्रभृतिषु नवसु वा रसेषु आनन्दो यस्याः सा। सर्वत्र आनन्दमनुभवन्ती समत्वयोगिनी काव्यस्वरूपिणी वाङ्मयस्वरूपिणी च वा सैव 'अहंविज्ञाना'।

सर्वेषां रसानामानन्दस्वरूपत्वं साहित्यशास्त्रैर्निर्णीतचरं सहृदयहृदयसंवेद्यं च। 'इत्थं सा समभावस्थिता रसनाग्राह्यरसेषु मानसभावेषु हर्षशोकादिनिदर्शनेषु समेषु व्यवहारेषु च मूलतः

अविक्रियमाणा एकरसा द्वन्द्वातीता' इति सारार्थः ।

अत्र 'सृजन्त्यवन्त्यदती' इति सृष्टिस्थितिसंहारत्रितये सर्वत्रापि शतृप्रयोगः कृत्यत्रयस्याऽस्य निर्बाधां प्रवृत्तिं निर्दिशति । 'नित्यम्' इति पदान्वयेन स एव भावः सुदृढः स्पष्टतरश्च भवति । प्रतिक्षणं प्रतिनिमेषमपि वा सा पौर्वापर्यविरहेण सृजति अवति अत्ति = संहरति च । यवनानां ख्रीष्टानुयायिनां च प्रलयदिवस इव निर्णयदिवस इव न तस्याः कश्चित्कार्यविशेषाय कालविशेषो नियतः । कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं समर्था सा ईश्वरी सर्वसामर्थ्य-स्वरूपिणी अपरिच्छिन्नसामर्थ्या सदा सर्वं सृष्टि-स्थिति-संहृति-कार्यं समकालं सम्पादयति । पश्यामो वयं यदेकस्मिन्नेव क्षणे कश्चिदुद्भवति, अपरः सुखेन तिष्ठति, इतरश्च विलीयते, यथा सागरे तरङ्गा बुद्बुदा भङ्गाश्च । अपि वा एतत्कृत्यत्रयं निग्रहानुग्रहाविव परस्परमभिन्नमेव । यथा कौमार्यविलयो यौवनसर्गः, यौवन-विलयश्च वार्द्धक्यसर्गः । दिनविलोप एव रात्र्युद्गमो रात्रेर्विनाशश्च दिवसस्योत्पादः । इत्थमेकस्य सर्गोऽपरस्य संहृतिरिति सर्वत्र सुस्पष्ट-मालोक्यते । पदार्थानां प्रतिक्षणं जायमाने विकारे संहृतिसर्गरूपे विकारस्थितिः सृष्टिसंहृत्योरनवच्छिन्ना स्थितिर्वा अवनकृत्य-स्याऽपि सत्तां निरन्तरायां स्पष्टयति । एतेन अस्य सृष्टिस्थिति-संहृतिरूपस्य क्रियाकलापस्य कालत्रयेऽपि निर्बाधा प्रवृत्तिर्नाऽपल-पितुं शक्या ।

'आत्मनाऽऽत्मानमात्मनि' इत्युक्त्वा तस्या आत्मशक्तेः स्वात्ममात्रनिर्भरता साधनान्तरनिरपेक्षता च प्रतिपादिता । तेनैव सा समरसानन्दा । परमुखापेक्षितैव खलु इह महद् दुःखम् । सर्वथा निरपेक्षता च महत्सुखम् । उक्तं च—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वं ह्यात्मवशं सुखम् । इति ।

एवं नित्यमेकरसा सा महानुभवमश्नुते ॥५॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
पञ्चमी कारिका ।

—०***०—

[वि०] नन्वेवं सकलमपि कर्मजातमसौ शक्तिरेव भगवती करोतीति कुतो न सा पुण्यपापभागिति शङ्कामपोहितुमुच्यते—

[प्र०] अधुना तस्या आत्मशक्तेर्द्वन्द्वातीतत्वं प्रतिपाद्यते—

कल्पितं पुण्यपापादि नैव स्पृशति जात्वपि ।
निर्लेपं सर्वगमपि करकादि वियद्यथा ॥६॥

[वि०] यत् खलु कार्ममलोल्लासरूपं पुण्यपापादि तत्सर्वं कल्पितमेव, न वास्तविकं परमार्थतः। अतोऽसौ भगवती तत् कल्पिततयैव पश्यन्त्यैन्द्रजालिकसृष्टिवदसत्यत्वेन परामृशन्ती तत् नैव स्पृशति, तेन लिप्ता न भवति । यथैव हि स्वभावतो निर्लेपं वियत् = नभः सर्वगमपि, सर्वत्र करकादौ विद्यमानमपि सत् तत् करकादि वर्षोपलमेघधूलीपटलप्रभृति नैव स्पृशति निर्लेपत्वस्वभावमाहात्म्यादेव । करकः कमण्डलुरप्युच्यते, ततो घटाकाशकरकाकाशादि सर्वं कल्पनामात्रं, न तेन नभसः परिच्छेदनं कर्तुं शक्यम् । अतो यथा तदपारमार्थिकं, तथैव पुण्यपापादिकमपि । जीवस्तु काल्पनिकमपीदं भगवत्या मायावशान्मोहितत्वेनाखिलं परमार्थसत्यतयैवाभिमन्यमानोऽभिनिविशमानश्च तत्र पुण्यपापादिना लिप्तो भवति तेनैव जनममरणजराव्याधिप्रभृतिभिः कदर्थ्यमानः कष्टमवाप्नोति । प्रत्यभिज्ञातस्वस्वरूपो योगी मानवशरीरे सन्नपि, लोकव्यवहारं कुर्वन्नपि च स्वमायाकल्पितमिदं सर्वं पश्यन्नाकाशवन्निर्लेप एव भवतीति न बद्ध्यते । ततोऽसौ जीवन्मुक्त इत्याख्यायते । जात्वपि = कदाचिदपीति ॥६॥

[प्र०] कल्पितं = न तु वास्तविकम् । पुण्यपापादि जात्वपि = कदाचिदपि कालत्रयेऽपि वा न स्पृशति = व्याप्नोति । यथा निर्लेपं सर्वगमपि = विभु अपि । वियत् = आकाशं करकादि पदार्थजातम्, करकादि वा वियत् न स्पृशति । तामात्मशक्तिम् । या (३/४/५) कारिकासु वर्णिता ।

पूर्वं तावत्पापपुण्यादेः सत्तैव नास्ति, तदस्ति हि कल्पितमिति पुण्यपापादिपदव्यवहार्यं कर्म देशकालादिपरिस्थितिमपेक्ष्यैव तत्तन्नाम्ना व्यवह्रियते । यथा शस्त्रप्रयोगो हि दस्युना क्रियमाणो निन्द्यः शल्यचिकित्सकेन तु क्रियमाणोऽनुग्रहात्मतया स्पृहणीयेषु स्वीक्रियते । अपि च प्रजाजनेन क्रियमाणो वधो दण्ड्यः, राज्ञ आदेशेन क्रियमाणस्तु दण्ड्यवधो न दण्ड्यः, अपि तु अविगीतोऽसौ । तथैव इन्द्रियलौल्यात्पशुव्यापादनं पापम्, तदेव पुनर्देवयजनार्थं कृतं पुण्यम् । अपि वा कूपादिखननं कीटादिवधेन दोषः, परं पिपासितजनपिपासानिवृत्त्या तत्क्लान्तिहरणजन्येन गरीयसा पुण्येन तदेव गुणः । एवं व्यवहारस्य शास्त्रस्य च विवेचनेन पुण्यपापयोः परिस्थितिसापेक्षतया परस्परसापेक्षतया च कल्पितत्वं सुस्पष्टम् । तथा च वन्ध्यापुत्रस्य सम्भाषणादीव पुण्यपापादेः स्पर्शः सम्भावनाऽपेतः ।

अत्रेदं निदर्शनम् — यथा करकादिकं आकाशं न स्पृशति आकाशं हि सर्वं जगद् व्याप्य तिष्ठति, परं तदस्ति निर्लेपम् । इमे पदार्थास्तस्मिंस्तिष्ठन्तोऽपि न तत्स्पृशन्ति । इत्थमेव तस्यामात्मशक्तौ स्थितमिदं सर्वं द्वन्द्वं न तां स्पृशति । न तस्याः पुण्येनास्ति किमपि प्रयोजनं न वा पापेन । यथा । श्रीभगवानाह —

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः
अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥(गी०५/१५) इति ।

अपि वा — कल्पितं सर्वगमपि निर्लेपं यद् ("इण्"धातोः शतृप्रत्ययः)। गच्छद् (जगत्) पुण्यपापादिना जात्वपि स्पृशति एव (किम्)? न जात्वपि स्पृशति। यथा करका = वर्षोपलाः, दिवि = अन्तरिक्षे (स्थिता अपि न तत्स्पृशन्ति)।

उभयथाऽपि स एवाशयः स्फुटो भवति। आत्मतत्त्वं हि द्वन्द्वातीतं पुण्यपापादिस्पर्शवर्जितम्। अपि च आत्मदृष्टौ सम्पन्नायां पापपुण्यादिकल्पना सर्वाप्यपैति। अपि वा आत्मदृशाऽनुगृहीतोऽयं द्वन्द्वैर्विमुक्तो भवति। भवतु ॥६॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
षष्ठी कारिका।

—०***०—

[वि०] सप्तमेन पद्येन जाग्रदाद्यवस्थात्रयस्य काल्पितत्वेनाऽपारमार्थिकत्वं प्रतिपाद्यते—

[प्र०] तदेव स्वाभिमतमाचार्यः प्रकारान्तरेण विशदयति —

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानि केवले नित्य आत्मनि।
स्वकलाकल्पितानीति विलसन्त्यपि सन्ति नो॥७॥

[वि०] प्रमातुः पञ्चावस्था अभिमताः शास्त्रकृद्भिः। तासु तिस्रः पशुजनैरपि स्वसंवेदनवेद्याः। द्वे पुनर्योगिजनमात्रविषये। तथा हि — काचनाऽवस्था 'जाग्रत्' इति प्रसिद्धा। यत्र प्रमाताऽन्तःकरणबहिष्करणव्यापारान् सम्पादयितुं शक्नोति, कर्मेन्द्रियाण्यपि व्यापारयितुं समर्थः। अस्यां दशायामस्य 'विश्व' इति समाख्या। द्वितीया खल्ववस्था 'स्वप्न' इत्याख्या। तत्र हि प्रमाता केवलमन्तःकरणैरेव विषयग्रहणादिव्यापारान् विधत्ते। तत्रास्य 'तैजस' इति नाम प्रसिद्धम्। तृतीया तु

साऽवस्था, यत्र तथा सुप्तो भवति यथा स्वप्नादिकमपि न पश्यति। तत्र ह्यन्तःकरणमपि सुप्तं भवति। एषा सुषुप्तिः सुषुप्तं वा भण्यते। अस्यामवस्थायां प्रमातुः 'प्राज्ञ' इति समाख्या। विनाऽपि निद्रां स्वप्नसुषुप्त्योः सम्भवः। न केवलं निद्रायामेव। तथा हि मनसैव विषयाँश्चिन्तयन् संकल्पमनोराज्यादौ बाह्येन्द्रियेभ्यो मनः संहृत्यान्तःकरणमात्रे च निवेश्य प्रमाताऽस्वपन्नपि स्वप्नदशामधिरोहति। तथा चिन्ताशोकहर्षादितीव्रभावैस्तथा तन्मयतामापाद्यते कदाचिद् यथास्य मनः सर्वस्मादिन्द्रियवर्गात् संहृतं भवद् विलीयत इव, चिन्ताशून्यतामिव तदापादयन् जीवो विनापि स्वापं सुषुप्तदशामासादयति योगिनोऽपि ध्यानाद्यभ्यासेनैतद्दशाद्वयमनुभवन्ति। सुषुप्तिस्त्वन्धकारमयीव काऽपि दशा। तस्याश्चेत् प्राणे प्रतिष्ठा तदा सवेद्याऽसौ। चेत् शून्येऽसौ प्रतिष्ठिता, तदाऽपवेद्या। ज्ञानघना हि कापि दशा तुर्याख्या योगिभिरेव स्फुटं साक्षात्कार्या। तदुत्तीर्णा च कापि योगिनां तुर्यातीताख्या दशा। एतयोर्हि दशयोः प्रकाशविमर्शात्मकत्वमात्मनः संवेद्यते। तुर्या ह्यनाश्रितं शिवमवलम्बते। तदतीता चाऽनुत्तरमिति विवेकः। कदाचिद् रसभावाद्यावेशवशाद् हर्षक्रोधाश्चर्याद्यतिशयवशाच्च सामान्यपशुजनानामपि क्षणं तुर्या दशाऽऽविर्भवति। परं रहस्यशास्त्रेषु दीक्षिताः सावधाना एव तां संविदन्ति, नेतरे पशुसदृक्षाः। तदेतासां मध्ये जाग्रदादयस्तिस्रो बन्धनरूपाः, इतरे द्वे मुक्तिरूपे। एता जाग्रदादयोऽपि नित्ये=सततमविच्छेदेन स्वप्रकाशेन प्रकाशमाने आत्मनि परब्रह्मस्वरूपे केवले=अद्वैतरूपिणि विलसन्ति अपि विलासं प्राप्नुवत्यः सत्यः। शतृप्रत्ययो ह्यत्र। ततस्तस्मिन्नेव पर्यन्तविश्रान्तिमासाद्याऽवभासमानाः सत्योऽपि वस्तुतो नो सन्ति। पारमार्थ्येन न तासां काऽपि सत्ता। यतः परमेश्वररूप आत्मनि ताः। तस्य परमात्मनो या स्वीया=आत्मीया, आत्माभिन्ना कला=निर्माणशक्तिः परस्वातन्त्र्याख्या महामाया तयैव कल्पिता एता अवस्थाः। ततो विलसनमासां न पारमार्थिकम्, अपि त्वेतास्तिस्रोऽपि संवृत्यैव भासमानाः प्रतीयन्ते। तदासां संवृतिसत्त्वेन परमात्मनः कृते न बन्धनरूपत्वम्।

यतोऽसौ संवृतिसत्त्वेनैवैताः पश्यति, ऐन्द्रजालिक इव स्वकीयमिन्द्रजालकम् । जीवस्त्वेताः परमार्थतया पश्यन् बध्यमान एताभिः खिद्यते वराकः । इतिशब्दोऽत्र हेतुताद्योतकः । यतः स्वकलाकल्पितानीति ततो न पारमार्थ्येन सत्तैषामिति ॥७॥

[प्र०] जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानि=त्रीणि अवस्थान्तराणि । केवले=अनन्येऽद्वितीये वा । नित्ये=शाश्वते । आत्मनि स्वकला कल्पितानि इति=अस्माद्धेतोः, विलसन्त्यपि=स्फुरन्त्यपि नो सन्ति ।

नित्योऽयमात्मा चैकरसो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु अवस्थान्तरेषु व्यवह्रियते । अपरिवर्तनशीलस्य परिवर्तनाऽनुभवो न कल्पनां विना सम्भवति । सा तु असतः सद्भावानुभूतिरूपैव ।

विश्वमपीदं जीवजगत् अस्मिन्नेवाऽवस्थात्रये समुपलभ्यते । एतदवस्थात्रयं नास्ति वास्तविकम् । अवस्थात्रितयातीतमस्ति किमप्यन्यत्तत्त्वम् । तदेवास्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपस्यावस्थात्रितयस्य साक्षिभूतम् । सर्वत्राऽपि ज्ञानमनुभूतिर्वा तिष्ठति । जाग्रत्स्वप्नयोस्तु हर्षशोकाद्यनुभूतिः सर्वस्याऽपि च साऽविवादमभिमता । सूक्ष्मेक्षिकया सुषुप्तावपि तत्सत्ता सुस्पष्टा भवति । सुषुप्तेरनन्तरं 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति समुद्गारः सुषुप्तिकालिकमानन्दं तदनुभूतिं च स्पष्टं व्यनक्ति । एतेनास्मिन्नवस्थात्रयेऽपि ज्ञातुः साक्षिभूतस्य अपरोक्षानुभूतिमतः सत्ता सिद्ध्यति । तथा च सति योऽप्येष साक्षिभूतः स एव अवस्थात्रयातीतः तद्भिन्नस्तुरीयपदबोध्य आत्मा ।

कृकलासस्य विपरिवर्त्तमाना वर्णा इव परिस्थितिसापेक्षा हर्षशोकादय इव च इमा अवस्थास्तत्राऽऽत्मनि । इमा हि उत्पद्य विनश्यन्त्यो जलस्य वीचय इव तस्मिन्नात्मनि विकृतिविशेषा एव । तेन एषां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानां कल्पितत्वं सुसिद्धम् । उक्तं च "यन्नास्ति तत्कालत्रयेऽपि न सम्भवति, यत्पुनरस्ति तन्न कदाचित्का-

लान्तरे गत आगामिनि च सत्ताविरहितं सम्भवति। यदस्ति तत्सर्वथाऽस्ति, यत्पुनर्नास्ति तत्सर्वथा नास्त्येव" इति सारार्थः। श्रीगीतायां यथा—

नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥(२/१७) इति।

तत्त्वदृशां निश्चयोऽयमव्यभिचारी सिद्धान्तः। अत उत्पादविनाशशालिनामेषां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानां कल्पितत्वे त्रिकालाबाध्यसत्ताकस्य आत्मनोऽवस्थाविशेषमात्रत्वे च नास्ति सन्देहलवोऽपि।

अपि च — 'अवस्थात्रयं काल्पनिकम्' इति स्वीकृतम्। तस्याः कल्पनाया अधिष्ठानेनाऽपि भवितव्यम्। निरधिष्ठाना हि कल्पना न सम्भवति। यदेव तस्या अधिष्ठानं तदेव तद् वास्तविकं तत्त्वम्।

इत्थमवस्थात्रयस्य साक्षिरूपेण अधिष्ठानरूपेण च तुरीयपदस्थस्य आवरणान्तराणीव इमानि त्रीणि स्वीकुर्वत आत्मतत्त्वस्य सिद्धिर्निर्बाधा प्रतिपादिता भवति।

अत एव च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानि यद्यपि स्फुरन्ति तथापि नो सन्ति वस्तुतः। असतामपि तेषां स्फुरणं कल्पनासामर्थ्यात्।

अत्र 'विलसन्ति' 'सन्ति' इत्युभयत्र शत्रन्तत्वं तिङन्तत्वं च विवक्षाभेदेन स्वीकृत्य व्याख्याने "सततं स्फुरणविषयाण्यपि नो सन्ति, सततं सद्भावविषयाण्यपि नो स्फुरन्ति, इत्यर्थः स्फुटो भवति। विलसन्त्यपि नो सन्ति सन्त्यपि नो विलसन्ति। तेन "यद्यथा नास्ति तत्तथा स्फुरति, यथा चास्ति न तथा स्फुरति" इत्येव स्फुटो भावो विभाति। कल्पनामाहात्म्यमेवात्र कारणम्।

एष एव भावोऽन्यथान्तरेणापि स्फुटो भवति। तथाहि —

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानि केवले नित्य आत्मनि स्वकलाकल्पितानि इति, अपि विलसन्ति ? अपि सन्ति ? नो सन्ति इत्युत्तरम् । यतस्तानि स्वकलाकल्पितानि अतस्तानि नो सन्ति । 'स्वकलाकल्पितानि' इत्युक्त्वा आचार्यस्तस्या आत्मशक्तेः स्वात्ममात्रनिर्भरतां प्रतिपादयति । अनन्यसद्भावतामद्वितीयत्वं वा तस्याः सूचयति । एतदवस्थात्रयकल्पने कस्य चिदन्यस्य उपकरणस्य नापेक्षा, तदितरस्य सद्भाव एव यतो नास्ति । स्वकला आत्मशक्तिरेव सर्वस्याऽस्य विधायिका । इयं स्वस्य कला = विलासः सौन्दर्यं वा कल्पनासामर्थ्यम् । सैव श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी अवस्थात्रयसौन्दर्याभासा । इयमेव कामकला रहस्यविज्ञैर्महाषोडशी समुपास्यते स्वसंवित् । अत एव प्रथमकारिकायां श्रीमदाचार्यपादैरपि हृदि वन्दिता । भवतु ॥७॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
सप्तमी कारिका ।

—०***०—

[वि०] अष्टमेन पद्येन जगतो विद्यमानत्वाऽविद्यमानत्वाभ्यां परमेश्वरस्य स्वरूपेऽविशेष इति प्रतिपाद्यते —

[प्र०] "जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तमात्रस्य जगतः कल्पितत्वं प्रतिपादितम् । तत्किं जगदिदं वस्तुतो नास्त्येव ? यद्येवं, तर्हि महाननर्थ आपद्येत । सर्वमपीदं विनश्येत् इति जगदासक्तस्य प्राकृतजनस्य बिभीषिकामपनेतुमाचार्यः प्रवर्तते —

विद्यमाने जगति को लाभो नष्टे च का क्षतिः।
वन्ध्यासुते जीवति नो लाभो हानिश्च नो मृते॥८॥

[वि०] पारमार्थ्येनासत इन्द्रजालवत् कल्पितसत्ताकस्य संवृतिसत्त्वेनैव व्यवहारदशायामङ्गीकृतस्य जगतश्चेद् विद्यमानता तदा निरपेक्षस्य परमेश्वरस्याऽन्यस्य वा कस्यापि शुद्धविवेकस्य सुप्रबुद्धस्य सिद्धजनस्य को लाभः, न कोऽपीति भावः। कल्पनोल्लासितस्याऽस्य नाशे च तस्य का क्षतिः । न कापि ह्रानिरिति भावः । अस्तु वा जगन्मावाऽस्तु न तेन कोऽपि विशेषः । यथा व्यवहारे वन्ध्यासुतस्य पारमार्थ्येनाऽविद्यमानस्य केवलं शब्दप्रयोगमात्रेणाऽवभासितस्य जीवितत्वेन मृतत्वेन वा न कोऽपि लाभो न वापि काचिद्धानिस्तथैव काल्पनिकस्य जगतोऽपि विद्यमानत्वाऽविद्यमानत्वयोरिति स्पष्टमेवेदं सर्वम् । यच्च संवृतिसत्त्वं जगतस्तदपि परमार्थदृष्ट्याऽसत्त्वमेव । संवृतिर्हि विकल्पबुद्धिस्तयैव सत्त्वं संवृतिसत्त्वम् । विकल्पश्च "शब्दज्ञानाऽनुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" इति लक्षितः । स च वन्ध्यासुतेऽप्यस्त्येव । तद्यथा वन्ध्यासुत इति विकल्पबुद्धिर्वस्तुशून्या सर्वैरङ्गीकृता तथैव विश्वमिदं सर्वं वस्तुशून्यमिति न सत्यम् । असत्यत्वादकिञ्चित्करं विवेकिनः । अविवेकिनस्तु सत्यत्वेनाऽखिलं भावजातं पश्यतो बन्धनप्रयोजकं विश्वम् ॥८॥

[प्र०] मा भैषीः । जगतो वर्त्तमानता स्यान्न वा स्यात्, नात्र किमप्यन्तरम् । यतः तस्य सत्त्वे नो लाभः, न चापि तस्य अभावे विनाशे वा काचिद् हानिरस्ति कस्यचित् । स्वं राद्धान्तं पोषयितुमुदाहरति — यथा वन्ध्यासुतो जीवेन्म्रियेत वा न तत्रास्ति किञ्चिदन्तरम् तत्र न कस्यापि हर्षशोकौ दृश्येते, तथाऽत्रापि । वन्ध्यासुतमुदाहृत्य जगतः कल्पनामात्रत्वं सम्यक् निदर्शितम् । जगदिदं वन्ध्यासुत इव कल्पनामात्रसत्ताकम् । असतश्च सत्ताविनाशयोः प्राप्तेर्न प्रसङ्गः ।

नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः । (२/१७)

नसतो विद्यतेऽभावो, न भावो विद्यतेऽसतः इत्यसतः सत्ताप्रतिपादकः । पुनरुक्तिसंवलित ऊहस्तु नोचितः; "यावज्जीव-

महं मौनी" इति वदतोऽव्याघातदोषापत्तेः प्रकरणविरोधाच्च । ततश्च तदपेक्षिण्यो लाभहान्योरपि न प्रसङ्गः । 'अतो नाऽत्र जगद्विनाशभीत्या आत्मा विग्लापयितव्यः' इत्युपदिश्यते वस्तुस्थितिराचार्येण । अस्तु ॥८॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
अष्टमी कारिका

—०***०—

[वि०] नवमेनैतदेव भङ्गयन्तरेण स्पष्टीक्रियते —

[प्र०] पुण्यपापादेर्जगतश्च प्रत्याख्यानं पुनर्द्रढयति —

अवद्यमनवद्यं वा कर्म किं साधयेदसत् ।
शशशृङ्गं धनुर्यद्वदद्दृढं दृढमेव वा ॥९॥

[वि०] यदसत् = परमार्थेनाऽविद्यमानस्वरूपं तत् । अवद्यं = सदोषं, अशुद्धं = पापरूपं वा । अनवद्यम् = अदुष्टं शुद्धं पुण्यरूपं वा कर्म किं साधयेत्, न किमपि साधयितुं शक्नोतीति शक्यार्थे लिङ् । असद्रूपं जगद् विवेकिनः कृते पुण्यपापरूपकर्मजालसाधकं नैव भवति ततो न तस्य कृते बन्धनप्रयोजकम् । यथाऽविद्यमानसत्ताकं शशशृङ्गं, अदृढं वा दृढं वा न किमपि धनुः साधयितुमलम्, यतः स्वयमसिद्धं किं साधयेत् । शशशृङ्गमत्र कर्तृ, धनुः कर्म । अथवा लोके सद्रूपत्वेनावगम्यमानं परं वस्तुतोऽसद्रूपं यल्लौकिकं कर्म तत् पुण्यरूपं वा स्यात् पापरूपं वा, उभयथापि न किमपि फलरूपं सुखदुःखादि वा, जात्यायुर्भोगादिकं वा, जननमरणादिकं वा विवेकिनः कृते न साधयितुमलम् । यथा दृढं वाऽदृढं वा शशशृङ्गं जनस्य कृते न किमपि धनुः साधयितुमलम् । एवं व्याख्याने दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सम्बन्धः सम्यग् घटते । अग्निदग्धसामर्थ्यं हि

भृष्टं बीजं यथाङ्कुराद्युत्पादने समर्थं न भवति तथैव विवेकाग्निदग्धं कर्मजातम् । तथा चोपदिष्टं श्रीमद्भगवद्गीतास्वष्टादशाध्याये —

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् नहन्ति न निबद्ध्यते ।।(१८/१७) इति ।

श्रीपरमार्थसारेऽपि श्रीमदाचार्याऽभिनवगुप्तपादैरेवमेवोपदिष्टम् —

हयमेधसहस्राण्यप्यथ कुरुते ब्रह्मघातलक्षाणि ।
परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापैः स्पृश्यते विमलः ।। (७०) इति ।

तदित्थं परमार्थवित् शुभाशुभं कर्म कुर्वन्नपि तेन न लिप्यत इति तात्पर्यम् ।।६।।

[प्र०] अवद्यं=निन्द्यम् । अनवद्यं=अनिन्द्यं वा यदपि कर्म व्यवह्रियते; तदुभयमप्यसदेव । तथा च सति तत्किं साधयेत् ? न किमपीत्यर्थः । 'स्वयमसिद्धः कथं परान् साधयेत्' इति सार्वजनीन आक्षेपः सुतरां सयुक्तिकः । तदेव द्रढयितुं दृष्टान्त उपन्यस्यते 'शशश्रृङ्गम्' इति ।

यद्वत् शशश्रृङ्गं यतो नास्ति; अतस्तन्निर्मितं धनुर्दृढं स्याद् अदृढं वेति प्रश्नस्य नो प्राप्तिः; तद्वत् अनवद्यावद्यस्य=शुभाशुभकर्मणः सत्तायाः प्रत्याख्याने तद्धेतुकाया नरकस्वर्गादिप्राप्तेः सुखदुःखादिलाभस्यापि वा विचारो निर्मूल एव । तत्र कर्मणि शुभत्वमशुभत्वमपि नास्त्येव कर्मणः स्वरूपतोऽभावात् ।

एतेनेदं प्रतिपादितं भवति — जीवभावप्राप्तिकरं अन्तःकरणमालिन्यं न कर्मपरिहार्यम् । "शुभैः कर्मभिर्मनोनैर्मल्यं भवति तेन तत्र प्रवृत्तिः कर्त्तव्या इति शास्त्रोपदेशस्तु सामयिको बालान्प्रत्येव । आपेक्षिकी दुष्प्रवृत्तिर्यथा विरता भवेत् । शुभमशुभं वा कर्म सर्वमपि प्रवृत्तिमूलकत्वाद् बन्धाय जीवभावाय एव वा कल्पते । यथा हि लौहपञ्जरस्थः कनकशलाकान्तःस्थो वा शुकः पारतन्त्र्यसमालिङ्गित एव; तथैव एष जीव आपेक्षिकशुभाशुभकर्मनिगडितः

स्वातन्त्र्यवञ्चितः सुरनरवृक्षतिर्यगादिषु बन्धेषु विचरति ।

'किंविधं कर्म क्रियेत ? शुभे कर्मणि प्रवृत्यतां नाशुभे कर्मणि' इत्यादिः प्रश्नोत्तरी खपुष्पमिवाऽऽभाति । यदा कर्मैव स्वरूपतो नास्ति; तदा तत्र शुभाशुभत्वविचारः प्रवृत्त्यप्रवृत्त्योश्च आदेशः प्रमाद एव । 'जीवभावविमुक्तिर्न कर्मणा किंतु स्वात्मविज्ञानेनैव सा भवति इति**श्रीमदाचार्यचरणानामा**शयः । तथा च श्रुतिः— "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" अतो निरन्तरं**'आत्मविलास'**-चिन्तनेनैव तत्पदप्राप्तिः शिवभावो वा ।

अपि च — कारणत्वेन कल्पितस्य शशशृङ्गस्य सत्ता कालत्रयेऽपि नास्त्येव क्वचित् ; किं तु कार्यत्वेन स्वीकृतस्य धनुषस्तु कारणान्तरेण जन्यत्वे वंशादिनिर्मितस्य सत्ता प्रत्याख्यातुमशक्या । इत्थमत्रापि बोध्यम् — कारणत्वेन व्यवह्रियमाणस्य कर्मणोऽपि अस्तित्वं नास्त्येव कदापि, परं कार्यत्वेन स्वीकृतस्य स्वर्गादिप्रपञ्चस्य कारणान्तरेण विलासरूपेण अस्तित्वं स्वीक्रियत एव । तेन "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या," इति वादो निरस्यते । 'विश्वमिदं नास्ति, भ्रम एवायम्' इति वेदान्तिवचनं नाद्रियत **आचार्यः** ।

'अतस्मिँस्तद्बुद्धिर्हि भ्रान्तिर्मिथ्याज्ञानं वा; सा च बुद्धिः तस्मिँस्तद्बुद्धिसापेक्षा । सर्पे सर्पबुद्धिं गृहीत्वैव रज्जौ सर्पभ्रमो भवति; न तु कश्चित् सर्पयथार्थज्ञानविरहतो रज्जौ सर्पभ्रमं विन्दते । एष आशयो **न्यायदर्शनस्य वात्स्यायनभाष्ये**ऽप्युपलभ्यते ।

इयमत्राशङ्का स्फुरति — चित्रे सर्पमवलोक्य रज्जौ सर्पभ्रमः सम्भवति । चित्रस्थे सर्पे या सर्पबुद्धिः सा तु न तस्मिँस्तद्बुद्धिः । एवं च अतस्मिँस्तद्बुद्धिमूला अतस्मिँस्तद्बुद्धिः । नात्र भ्रमे तस्मिँस्तद्बुद्धेरपेक्षा । तथा च सति चित्र इव सत्ये ब्रह्मणि

या सर्परूपा अतस्मिँस्तद्बुद्धिः सैव अन्यत्र अतस्मिँस्तद्बुद्धे-र्मूलम। तेन जगतो भ्रमे न तस्मिँस्तद्बुद्धेरस्ति हेतुत्वम् । ततो जगतो मिथ्यात्वप्रतिपादकं वेदान्तिवचनं साधीयः।

अत्रायं समाधिः — चित्रे सर्पं पश्यतः 'अहं सर्पचित्रं पश्यामि' इति जानानस्य न तत्र अतस्मिँस्तद्बुद्धिः । चित्रस्थे सर्पे सर्पस्य आकृतिर्भवति, तामेव च पश्यति, अन्यथा भीतस्ततः प्रधावेत् तदपसारणाय वा समुद्यमेत। न तु तथाऽवलोक्यते । तेन न तत्र 'अतस्मिँस्तद्बुद्धिः' इति निर्विवादम् । ततश्च चित्रस्थे सर्पे सर्पाकृतौ सर्पाकृतिं गृहीत्वा रज्जावपि तामेव सर्पाकृतिं गृह्णन् तद्भ्रमं विन्दति। सोऽयं दृष्टसर्पचित्रस्य रज्जौ सर्पभ्रमोऽपि तस्मिँस्तद्बुद्धिमूलक एव ।

अतो जगदिदं न भ्रममात्रम् , अपि तु तस्या आत्मशक्ते-र्विलास एवेति सर्वं समञ्जसमस्तु ॥ ९ ॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
नवमी कारिका

—०***०—

[वि०] परमेश्वरस्य चिच्छक्तिमाहात्म्यादेव हि कल्पारम्भे विश्वानि तत आविर्भवन्ति कल्पक्षये च तत्रैव प्रलीयन्त इति हि प्रतिपादित-प्रायम् । विश्वसृष्ट्यादिपञ्चकृत्यत्वेनैव परमेश्वरस्य परमेश्वरत्वं प्रख्या-पितं भवतीत्यपि प्रतिपादितमेव । महाप्रलये सर्वस्य प्रलीनत्वात् कृत्य-पञ्चकादर्शनात् केन परमेश्वरताव्यवहार इति शङ्काशमनार्थं दशमं पद्यमुच्यते —

[प्र०] प्रपञ्चस्यास्य वन्ध्यासुतत्वं शशशृङ्गतां चाकर्ण्य सुनिपुणोऽपि जनश्चकित इव समवसन्नहृदय इव च किमपि अवा-

ऽच्छनीयं शून्यं भात्वं हृदि अनुभवेत् ; किमुत प्राकृतो जनः । अतस्तत्सान्त्वनार्थं 'एतद्विषये न चिन्तावसरः' इत्युपदेष्टुकाम आचार्य उपेक्षाभावपूर्णं वच आह —

स्फुरन्तु मा वा स्फुरन्तु विश्वान्यात्मनि किं ततः ।
आनन्दघनमद्वैतं चकास्त्येव महन्महः ॥१०॥

[वि०] न खलु विश्वप्रकाशमानताधीनाऽऽत्मपरमेश्वरस्य सिद्धिः । स तु स्वप्रकाशतया सर्वैः स्वसंवेदनेनैव सिद्धत्वेनाङ्गीकार्य एव । न ह्यत्यन्तमूढोऽप्यात्मनो विषये संशयं करोति 'अस्मि वाहं नाऽस्मि वा' इति । दृढ़या हि प्रतिपत्त्या स्वात्मानं सर्वः संविदन्नेवास्ति । ततः कल्पे विश्वानि भावजातान्यात्मनि परमेश्वरे स्फुरन्तु = प्रकाशन्तां , कल्पक्षये तानि तत्र मा स्फुरन्तु = मा प्रकाशन्ताम् । किं ततो विश्वप्रकाशनात् तदप्रकाशनाद्वा , न किमपि ततः । न तदधीना सिद्धिः परमेश्वरस्य , तस्य स्वप्रकाशतया प्रतिपादितत्वात् । आत्मस्वरूपं हि महद् = अपरिमितं महः = प्रकाशविमर्शात्मकं तेजः । सदैव स्वस्वातन्त्र्येण चकास्त्येव = स्फुरत्येव, न तु न स्फुरति । तद्धि स्पन्दतत्त्वमयं सदैव प्रकाशविमर्शसमरसाकारतया स्फुरत्येव स्पन्दमानमेव भवति । नहि तस्यैतत् स्पन्दनं चलनात्मकम् । सर्वगतस्य तदभावाद् । अपि तु चलनमिव किञ्चित् स्वहृदयेऽवधानेन स्वयमेव संवेदनीयं विमर्शाख्यस्फुरत्तामयम् । तच्च स्फुरत्तात्मकं परब्रह्माऽपरपर्यायं महन्महोऽद्वैतं = एकमात्ररूपं द्वैतगन्धेनाप्यऽनधिवासितं यतः प्रकाशविमर्शसमरसाकारं ततः सर्वदा चकास्ति । विमर्श एव हि चमत्कारः । घटेन न विमृश्यते ततस्तेन न चमत्क्रियते । चेतनेन प्रमात्रा विमृश्यते स्वात्माहन्तया, तत्र प्रतिबिम्बितं च घटादीदन्तया, यतः प्रमात्रा चमत्क्रियते परमेश्वरश्च सदैव परिपूर्णाऽद्वैतस्वात्मचमत्करणस्वरूपः। तच्चमत्करणस्वरूपमेव तस्य परमानन्दमयत्वमुच्यते, तदेवात्र प्रतिपाद्यते 'आनन्दघनम्' इति । तत्परमात्मरूपं महन्मह आनन्दघनम् = स-

र्वतः सर्वथा चानन्दरूपमेव । यथा हि सैन्धवपिण्डः स्वभावाद् घनः दशस्वपि च दिक्ष्वन्तर्बहिरपि च सर्वत्र लावण्यरसमयः, तथैव परमेश्वराख्यं महोऽपि केवलम् । इयांस्तु विशेषो यत् तत्र दिग्भागादि वर्णयितुमशक्यम्। ततस्तदानन्द एव सर्वथा न लेशतोऽप्यनानन्दरूपमिति ह्यानन्दघनमितिविशेषणस्याऽभिप्रायः । ततोऽसौ भगवान् सर्वत्रापि विश्वोल्लासनविलापनादौ शुद्धेऽशुद्धे वाऽध्वनि विश्वस्य भासमानतायामनवभासमानतायां वाऽऽनन्दघनस्वरूपमद्वैतं महन्महोरूपपरिपूर्णाहंप्रकाशविमर्शरूपतया स्फुरन्नेव वर्तते ॥१०॥

[प्र०] इमानि विश्वानि = प्राणिमात्रसंविद्विषयाणि जगन्ति । स्फुरन्तु = ज्ञानविषयाणि भवन्तु, मा वा स्फुरन्तु = मा वा ज्ञानविषयाणि भवन्तु । किं ततः ?=एतेन किम् ? 'नात्र किमप्यन्तरं पश्यामि' इति हृदयम् ।

तत्र हेतुमुपन्यस्यन्नाह — अद्वैतं = अनन्यसत्तावद् । आनन्दघनं महत् । महः = प्रकाशः । चकास्त्येव = चकास्ति प्रकाशते 'चक' इति अस्ति इति वा । 'चक इत्यनुकृतिशब्दः । तेन 'चक' इति या सद्रूपा प्रतीतिरनुभूयते, सा तस्मान्महाप्रकाशान्नातिरिच्यते । नैतेन शून्यभावापत्तिः ।

अत्र कारिकायां विश्वानां स्फुरणास्फुरणयोर्लोट्प्रयोगेण स्वनैरपेक्ष्यं तन्महेच्छाहेतुकत्वं च प्रदर्शितम् । 'किं ततः' इति नितरामौदासीन्योपदेशः । युज्यतेऽपि । कुतः ? शून्यताऽवभासखेदो नात्रोचितः । यतो हि सुमहतः प्रकाशस्य स्फुरणं सदाऽऽनन्दहेतुः स प्रकाशश्च आनन्दघनत्वेन न तत्प्रतियोगिलब्धावकाशः । अत एव सोऽद्वैतः ।

विश्वस्यास्य सर्गस्य चित्सत्तामात्रमस्वीकृत्य भौतिक्याः सत्तायाः स्वीकारे स्फुरणाऽस्फुरणाभ्यामुत्पादविनाशावापद्येते, ततश्च तद्धेतुकौ हर्षशोकौ । इत्थं वैषम्यमिदं द्वैतमूलं रागद्वेषावुत्पाद्य न कस्यापि सुखहेतुः स्यात् । यस्त्वेष पाञ्चभौतिकविलासे

सत्यभावं गृह्णतो जीवस्य सुखाऽनुभवः, स तु कण्डूनिर्विशेषः । सर्वस्यापि द्विष्टे कण्डूरोगे को न कण्डूतिसुखमनुभवति? तथाऽपि तत्परिहाराय यतते। यतो न तत् सुखम्, सुखाभासोऽसौ। दुःखानुविद्धं हि तत्। श्रीभर्तृहरिरपि विरक्तिमेव केवलां भयास्पृष्टामुद्घोषयति —

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥(वै० ३५)

अतः सा विरक्तिरेव एकान्तकमनीया। एषा विरक्तिश्च सदसद्विवेकमन्तरा नोत्पद्यते । सदसद्विवेकश्च आनन्दघनमात्राद्वैतबोधः। तथा च — 'यदस्ति तत्तथैवास्ति कालत्रयेऽपि । यच्च नास्त्येव तत्कालत्रयेऽपि नास्त्येव । न तत्रास्मदादीनां कल्पनासहस्रेणापि कश्चिद्विशेषः स्यात्' तत एव च "स्फुरन्तु मा वा स्फुरन्तु विश्वान्यात्मनि किं ततः ?" इति सहजसमाधिरेव असंशयं सर्वचिन्ताविपघ्नः सर्वसुखमूलञ्च इति तमेव सर्वदा परिशीलयन्ति मतिमन्तः। इह लौकिके व्यवहारेऽपि पश्यामो नित्यं यत् मनोविनोदाय प्रवृत्तासु विविधासु क्रीडासु तत्स्वरूपं विस्मृत्य जनाः परस्परं विवदन्ते खिद्यन्ति च। सैव एषा स्वरूपविस्मृतिरत्रापि सर्वस्य दुःखमूलम्। अतः "अनासक्तमना यद्यथास्ति तत्तथास्तु" इति द्वन्द्वातीतो व्यवहरन् आत्मविलासेऽस्मिन् परिपूर्णमानन्दघनभावं स्वं विन्दते । अयमेव श्रीमद्भगवद्गीतोपदिष्टः समत्वयोग इत्यास्तां विस्तरेण ॥१०॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
दशमी कारिका।

—०***०—

[वि०] नन्वानन्दघनश्चेत्तदा कुतो जीवभावं प्रकटयन् स्वकीयामानन्दघनतां गूहयति । तद्गूहनेन च कुतो बहुविधाधिव्याधिजरामृत्युव्याप्तां संसारतां सृजतीति बौद्धानां शङ्कायाः शमनार्थमेकादशं पद्यमुच्यते —

[प्र०] "चकास्त्येव महन्महः" इत्युक्तम् । तन्महः पुनर्न स्पष्टं चकास्ति । तद्धि स्वं शान्तैर्घोरैर्घोरतमैश्च रूपैर्नामभिश्च आवृत्य चकास्ति । एतदात्मनिगूहनं न दोषः; अपितु चमत्कृतिविशेष एवेत्याह —

कुर्वन्जानंस्तथैवेच्छन्यदात्मानमपह्नुते ।
सोऽपह्नवोऽप्यलङ्कारः स्वरसे माद्यतः कवेः ॥११॥

[वि०] पूर्वं प्रतिपादिता इच्छाज्ञानक्रियाख्या आत्मशक्तीरुल्लासयन् परमेश्वरो यदा तिरोधानक्रिययात्मानमपह्नुते देहादिकमेवात्मत्वेन पश्यन् सर्वगतं विश्ववैचित्र्यचित्रस्य समभित्तितलत्वेन सर्वानुस्यूतमात्मनः स्वरूपं निषेधति, सर्वं देहादेरितरदनात्मत्वेनैव पश्यति, तस्याऽसावात्मापह्नुतिर्न दोषाय भवति । यतः कविरसौ । कविरिव सकलं कल्पयन्नानन्दनिर्भरतां स्वकीयां विमृशन्नास्ते । कविरत्र श्रीकालिदासादितुल्यो ज्ञेयः न तु यत्र तत्र दृश्यमाना ये पद्यघटकाः कविम्मन्या उपहासास्पदीभूता जनास्तादृशः । नवनवोन्मेषशालिप्रतिभायुक्ताः शक्तिनैपुण्याभ्यासभाजश्च ये कालिदासादिसदृशा महाकवयस्ते तु सदैव स्वात्मानन्दे माद्यन्तः सन्तः स्वरसोल्लासरूपमेव काव्यादि सृजन्ति । तत्सृष्टौ च तेषां पूर्णं स्वातन्त्र्यं समुल्लसति । यथेच्छन्ति तथा जानन्ति तथैव च काव्यसृष्टिं कुर्वन्ति । काव्यमपि हि तेषामिच्छाज्ञानक्रियोल्लास एव । किञ्च कवेरानन्दविजृम्भोल्लासरूपं हि काव्यम् । यदैव कविरानन्दमयतामात्मनोऽनुभवति तदैव तया माद्यन्नसौ काव्यनिर्माणतत्परो भवति । ततः काव्यस्य मूलमपि परनिर्वृतिरूप आनन्दः, तस्य स्वरूपमपि ह्यानन्दमयम् । रसः

काव्यस्यात्मत्वेनाङ्गीकृतः। रसश्च चर्वणास्वरूप आनन्द एव। तथा च उपनिषद्वाक्यम् —"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति"

काव्यस्य करणे पठने श्रवणे चानन्द एव प्रयोजनम्। तथाहि— रसास्वादं समीहमान एव जनः काव्यपठनश्रवणादावुत्सुको भवति। ततः काव्यमानन्दमयमिति निर्विवादम्। करुणादौ रसे शोकादिकमप्यानन्दरूपतयैव गृह्यमाणं तत्र संवेद्यते। अन्यथा रामायणादौ करुणरसप्रधाने काव्ये लोकस्य प्रवृत्तिरेव न स्यात्। फलमपि काव्यस्यानन्द एव। कविरप्यानन्दोल्लासाभिव्यक्तिमात्मन इच्छन् काव्यनिर्माणे प्रवृत्तो भवति, लोकोऽप्यानन्दाभिव्यक्तिमात्मन ईहमान एव काव्यपठनश्रवणदर्शनेषु प्रवृत्तिपरो भवतीति सर्वस्य सिद्धमेवेति न शङ्कात्र कस्यचित्। तथैव परमेश्वरोऽपि महाकविः विश्वकाव्यकल्पनाः कुर्वन् करुणमपि जरामृत्युजननाधिव्याधिप्रभृति प्रकटयन्नानन्दमयत्वमेवोल्लासयति। परं यथा नटादेर्नाटकान्तः सामाजिकापेक्षया प्रधानतया वर्तमानस्यापि सभारञ्जनादिबहुतरचिन्ताव्याप्तस्य न रसास्वादो जायते, तथैव पारमेश्वरे दृश्यकाव्येऽत्र विश्वात्मके पशुजनस्य पुत्रदारादिचिन्ताव्याप्ततया न पारमेश्वररसास्वादः। यथा पुनः कदाचिन्नटोऽपि कश्चिदभिनयं प्रदर्शयन्नेव काव्यार्थभावनाबलात् परिमितप्रमातृभावं तत्कालं त्यजन् वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यमानन्दघनं काव्यरसमास्वादयेत् तथैव कोऽपि साधारणोऽपि जनः पशुजनमध्यपात्येव सन् भावनाकरणादिरहस्योपायशरणः सन् संसारव्यवहारं कुर्वन्नप्यात्मानन्दनिर्भरो जायेत। लोकव्यवहार एव हि तस्य सुखोपायत्वेन परमेश्वरतापदवीं गमयितुमलं भवतीत्यलं रहस्यविषयेऽधिकचर्चया। प्रकृते तु परमेश्वरः कविरिति स्पष्टम्।

तद्यथा काव्येऽपह्नुतिरलङ्कारविशेषो मन्यते एवमस्य परमेश्वरस्य स्वात्मस्वरूपपिधानपूर्वकं यः प्रदर्शितपूर्वोऽपह्नवोऽसावलङ्कार एव न दोषः। यतोऽसौ लौकिकः कविरिव महाकविः स्वरसे माद्यन्नेवापह्नुत आत्मानम्। रसानुकूल्येन हि दोषोऽपि गुणतां यातीति हि प्रसिद्धमलङ्कारशास्त्रेषु। तदत्रापि रसानुकूलत्वेन तथैव बोद्धव्यम्। उपलक्षणं चैत-

दलङ्कारान्तराणामपि । तथाहि — लोके संशयभ्रान्तिपुनरुक्त्याभासाऽसङ्गत्यनन्वर्यावरोधाक्षेपादीनां व्यवहाराणां दोषत्वमेवाङ्गीकृतं, परं काव्ये रसाभिव्यञ्जकत्वमाहात्म्यादेवैतेषां व्यवहाराणां न केवलमदोषतैवापित्वलङ्काररूपताऽङ्गीकृता सर्वैर्विद्वद्भिः । संविदिता चाऽसौ सर्वैः सवासनैः सभ्यजनैः । तथैव विश्वकाव्यरचयितुः परमेश्वरस्य स्वरसे माद्यतः स्वरसाभिव्यक्तिरूपं यत्काव्यं जगद्रूपं तत्रापि संशयभ्रमप्रभृतयोऽलङ्कारतामेव भजन्ते यत एतैरेव परमेश्वरस्य स्वरसोन्मादः स्फुटं व्यक्तो भवति । अन्यथा हि सदा स्वस्वरूपमात्रे तिष्ठन् किमपि बाह्याभिमतमनुल्लासयन् जडो नभस्तुल्यः स्यादकिञ्चित्करः तदपि वा न स्यात् । तथा चोक्तं श्रीतन्त्रालोके आचार्यश्रीमदभिनवगुप्तपादैः —

अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः । (३/१००)
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद् घटादिवत् ॥ (३/१०१) इति ।

परं परमेश्वरः परमेश्वर एव । तत एव स्वपरमेश्वरतारसे माद्यन् विश्ववैचित्र्यं कवयञ्चयति ॥११॥

[प्र०] कुर्वन् जानन् तथैव इच्छन् (एष कविः) यद् आत्मानं अपह्नुते = निगूहति, स्वरसे = आत्मानन्दरूपे शृङ्गारादिके काव्यरसे वा माद्यतः कवेः = पुराणपुरुषस्य कविकर्मकर्त्तुर्वा सोऽपह्नवोऽपि अलङ्कारः (भवति) ।

यथा लोके सर्वोऽपि जनः स्वां तनुं विविधैर्वस्त्राभरणादिभिरलङ्कृत्य स्वं द्रष्टॄँश्च रञ्जयति, तथैव कविरपि स्वं काव्यं रसगुणादियुक्तं विविधाभिरलङ्कृतिभिः सनाथीकृत्य स्वं स्वकाव्याध्येतॄँश्च नितरां रञ्जयति । यथा मनुजस्यालङ्कारास्तस्य शोभां संवर्द्धयन्तः स्वात्मानमुपकुर्वन्ति, काव्यालङ्कारा अपि काव्यस्य शोभामादधानास्तस्यात्मभूतं रसमुपकुर्वन्ति । तेषामलङ्काराणामन्यतमो भवति 'अपह्नुतिः' अलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा साहित्यदर्पणे —

प्रकृतं प्रतिषिध्याऽन्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः । (१०/३८)

तस्योदाहरणं यथा —

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः ।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः ॥

अत्र कविः नभोमण्डलं तदवयवान् तारेन्दुकलङ्कान् अपह्नुत्य तत्स्थाने अम्बुराशिं तदवयवान् नवफेनभङ्गान् मुरारिं च स्थापयति । वर्णाकृतिसाम्यमत्र मूलम् । सेयं अपह्नुतिः कवेरुक्ति चमत्कृतिमतीं विधाय सहृदयहृदयग्राहिणीं कुरुते । यद्यप्येषोऽलङ्कारोऽपह्नुतिर्नाम प्रकृतपदार्थस्य निगूहनरूपतया लक्षितस्तथापि पश्यामो निगूहनकर्मेदं प्रायेण सर्वत्राप्यलङ्कारेषु । अलङ्कारो नाम विच्छित्ति(चमत्कृति)विशेषः । सा च सर्वविदितस्य विषयस्य विलक्षणेन भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादनम् । तदेव हि निगूहनम् । यस्मिन्नुत्प्रेक्षा – रूपक – निदर्शनाप्रभृतिकेऽलङ्कारेऽपह्नव एव यावन्मात्रमभिवर्द्धते तस्मिँस्तावन्मात्रैव चमत्कृतिरप्यभिवर्द्धते ।

नैषोऽपह्नवोऽलङ्कारमात्रगोचरः; अपि तु कवेरुक्तौ सर्वत्र विहरन् तदुक्तिं चमत्कृत्या सनाथयति । "सर्वत्र कवेरुक्तौ यथा यथा निगूहनमिदं उद्भवति तथा तथा तदुक्तिः चमत्कृत्याऽऽलिङ्गिता भवति" इति सर्वथाऽवदातम् । अत एव तु यथातथं वर्णयन्त्यां अभिधायां न सा मनोमौग्ध्यकारिणी क्षमता, या हि लक्षणाव्यञ्जनयोरुत्तरोत्तरं समेधमानाऽनुभूयते । तत्र तयोः लक्ष्यव्यङ्ग्याभ्यां सङ्केतितार्थस्य निगूहनमेव कारणम् । रसस्य स्पष्टानुक्तिरेव सहृदयकमनीया । अन्यथा वैरस्याऽऽपादनाद् दोषः सम्पद्यते । उक्तं च **साहित्यदर्पणे** —

रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि (७/१२)

'दोष' इति शेषः । इदमत्र फलितं भवति यद् यथा हि कविः एकमेव भावं विविधाभिः शब्दशक्तिभिर्गुणैरलङ्कारैश्च वैविध्येन

विशदयन् विज्ञजनमनोरञ्जनं विदधत् स्वान्तःसुखं विन्दते, तथैव कविरसौ आत्मशक्तिसमाख्यं ब्रह्मतत्त्वं आत्मानं स्वकलया वैविध्येन प्रदर्शयत् काल्पनिकानां जीवानां काल्पनिकं रञ्जनं विदधत् स्वात्मानन्दनिर्भरतामनुभवति। कवेरुपकरणानि शब्दशक्त्यादयो यथा न कविमन्तरा तिष्ठन्ति, तद्रूपाण्येव तानि भवन्ति; तथैव एष कविरपि स्वकलादिभिरेव सर्वमिदं वितनुते।

इत्थमपि विविच्यताम्—सर्वोऽपि जागतिको व्यवहारोऽपह्नुतिमूल एव। यदि नाम सर्वः सर्वं जानीयात्, तदाऽहर्निशं सम्पद्यमानं सर्वमिदं कर्मजातं न क्षणमपि प्रवर्त्तेत। अन्योन्यगुणदोषावबोधे ज्ञानापेक्षा विनिवृत्तौ च पारस्परिकौ श्रद्धास्नेहौ गुरुत्वशिष्यत्वे च निवर्त्तेताम्। जीवानां परस्परापेक्षापहारे च शून्योऽयं जडो रङ्गमञ्च इव जगदिदं निःस्पन्दं जायेत। किं स्यात्तत्र रामणीयकम्? कः स्यात्तत्र रससञ्चारः? तत्राप्ययं विशेषो यद् एष समाजो यदेव कुरुते, जानीते इच्छति च प्रायेण तस्यापह्नवं कामयते। तथाऽनुष्ठानेनैव चास्य लौकिकं श्रेयः। पित्रोर्हि शृङ्गारः कस्य नाम अविदितः? तथाऽपि को नाम तद्विवरणे भद्रं पश्येत्? एतद्विवरणाभाव एव जीवने व्यवहृतिसामञ्जस्यं स्वारस्यं च। तद् आत्मतत्त्वमपि सर्वाः स्वकीयाः कृतिज्ञानसमीहा निगूह्य आनन्दविशेषं स्वदते।

पूज्यपाद आचार्योऽत्र 'कुर्वन्, जानन्, इच्छन्' इति त्रितयेऽपि परस्मैपदं प्रयुञ्जान एषां परार्थत्वं संकेतयति। एष पुराणकविः एतत्त्रितयमपि नात्मानमुद्दिश्य अनुतिष्ठति, अपि तु जीवदृग्गोचरस्तदर्थमेव। अपि वा एषामनुभूतिर्जीवस्यैव, न तु तस्य पुराणपुरुषस्य। तत्रैषां स्वरूपतोऽभावात् परस्मैपदित्वमेव।

एतेन विवेकेन सुस्पष्टमिदं भवति, यत् सर्गेऽस्मिन् आत्मतत्त्वस्य निगूढा स्थितिः। तत्त्वापह्नवो न दोषाय, अपि तु आत्म-

लीलाहेतुकः सुखायैव । "कथाऽपि खलु पापानामलम्" इत्येष सुतरां प्राचीनः सर्वस्यानुभवसिद्धः सिद्धान्तः शास्त्राणाम् । परं सम्प्रति 'प्रगतिशील'पदव्यवहार्या यथार्थवाद इत्यपरसमाख्यासनाथा यथार्थवर्णनाभिमानिनी साहित्यवाहिनीधारा कूलङ्कषेव प्रवहन्ती समवलोक्यते । मानवजीवने प्रत्यहं प्रवर्त्तमानानां चरितानां दुराचरितानां तु विशेषतो वर्णनमस्याः स्वरूपम् । समाजोऽयं कियन्मात्रे महापङ्कगर्त्ते तया पातित इति तु कतिपयेषां विचारजुषामेव बुद्धिगोचरः । साधारणो जनस्तु अविवृन्द इव गतानुगतिकः कूपे पतनं नानुभवति तावद् यावन्न स्वयं पतति ।

अद्यत्वे विविधानुक्तधाराप्रवृत्तानुपन्यासादीनधीत्य तादृशान्येव च चलचित्राणि समवलोक्य अद्यतनो युवसमाजः किं किं दुश्चरितं न शिक्षितवान् ? एषोऽहर्निशं क्रियमाणः पापाचारः प्रायेण एषामेव प्रसूतिः । विंशत्युत्तरा चतुःशती (४२०) सर्वस्य हृदि वाचि च स्थिता परप्रतारणकला अद्य गेहे गेहे जने जने च एभिरेव प्रसारिता । मक्षिकाचरितं हि मनो दोषाभिप्रवणं भवति । कस्यचिद् विरलस्यैव मनः सुचरितं स्वीकुरुते । प्रायेण तु दोषा एवाऽऽक्रामन्ति ।

को नाम यथार्थवादः ? अस्य समाधानात्प्राक् किं यथार्थम् (याथार्थ्यं वा) ? 'कोन्वर्थः ?' इति विवेक्तव्यम् । ततोऽस्य प्रस्तुतस्य यथार्थवादस्य मिथ्याभिमानित्वं सुस्पष्टं भवेत् । आस्तां विषयान्तरव्यासङ्गेन ।

"परमात्मशक्त्या प्रतिनिमिषं स्वीक्रियमाणं निगूहनमिदं सर्वथा सर्वस्य स्वस्तये; तस्याः स्वानन्दाय एव च भवतीत्यलम् ॥११॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते

श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे

एकादशी कारिका

—०***०—

[वि०] एकादशे पद्य उल्लिखितं कवित्वमेव परमेश्वरस्य द्वादशत्रयोदशाभ्यां स्पष्टीक्रियते । तत्र प्रथमं सामान्यतस्तस्य कवित्वमित्थं प्रतिपाद्यते —

[प्र०] प्रसिद्धं तद् आत्मतत्त्वं ब्रह्म वा 'श्री'समाख्यं (पुराण)कवित्वेन सङ्केतितम् । अधुना तदेव रूपकं स्फीततरं विधित्सुराचार्यो विश्वस्यास्य काव्यस्य सर्गे व्यापृतां तस्य कवेः प्रक्रियां व्याचष्टे —

स्वप्रकाशं विमृश्याऽयं स्वविमर्शं प्रकाश्य च ।
विश्वानि कवयँस्तेषु रमते हि रसात्मना ॥१२॥

[वि०] प्रकाशविमर्शयोः स्वरूपं हि प्राक् प्रतिपादितमेव । तयोरितरेतराऽभिन्नत्वमितरेतरराहित्येन च स्वरूपहानत्वमपि तयोः प्रतिपादितमेव । ततः प्रकाशविमर्शसमरसाकारस्य भगवत एतदेव विश्ववैचित्र्यकल्पनात्मकं कवित्वं, यदसौ सदा स्वं प्रकाशं विमृशति, स्वं विमर्शं च प्रकाशयति । विमर्श एव चमत्काररूप आनन्दत्वेन रसत्वेन च भण्यते । एतद्विमर्शप्रकाशनमेव क्रमेणोच्छूनतां प्राप्नुवद्विश्वरूपत्वेन चकास्ति । सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यस्य मूलभूतं हि पारमेश्वरविमर्शप्रकाशनमेव । एतद्व्यसकृद् बहुभिः प्रकारैः प्रतिपादितं प्राक् । पुनश्च परिमितप्रमातृतायामवरूढः परमेश्वरः परमेश्वरतां प्रकाशविमर्शमयीं यद् विमृशत्यात्मनः, ततो भावनादिवशात् प्रत्यभिज्ञातया सृष्ट्यादिकृत्यपञ्चककर्तृतया क्रमेणोल्लसतीत्यपि हि प्रतिपादितप्रायम् । ततः स्वप्रकाशविमर्शनं स्वविमर्शप्रकाशनं चास्यारोहणमवरोहणं चानुग्रहरूपत्वेन निग्रहरूपत्वेन च पूर्वं निरूपितम् । स्वां विमर्शाख्यां शक्तिं प्रकाशयन्नेव विश्वावभासाख्यमवरोहरूपं निग्रहं कवयति । ततः स्वं शुद्धप्रकाशरूपत्वं विमृशन्नेव हि विश्वमात्मनि विलापयन्नारोहक्रीडारूपमनुग्रहं कवयति । कवयतीत्येतदेवोक्तं यदनुपपद्यमानमिवाद्वैतं द्वैतं च समकालमेव स्वमायया कल्पयन्नास्ते । अद्वैतं स्वाभाविकं

द्वैतं काल्पनिकमिति न शङ्कनीयम्। उभयं ह्येतत्सापेक्षम् ; अद्वैतापेक्षया हीदं द्वैतं द्वैतापेक्षया च तदद्वैतमिति सापेक्षत्वमुभयत्र। तत उभयरूपाणि विश्वानि भावजातानि कवयन् = स्वमायया कल्पयन्, तथावभासयन्, तेषु भावजातरूपेषु काव्येषु रसात्मना कविरिव शृङ्गारादिना परमेश्वरः स्वात्मचमत्करणात्मनानन्देन रमते क्रीडाशीलो भवति। आत्माऽभिन्नो हि शृङ्गारादिको रसः। यतः कविहृदयेऽसौ चमत्कारं प्राप्नुवन् काव्यरूपतयोल्लसति। ततः काव्यं किमिति प्रश्नस्य युक्तमुत्तरमेतदेव यत्कवेरात्माऽभिन्नो रसात्मानन्द एव काव्यरूपतयावस्थितः स्थूलमिव रूपं तस्य सूक्ष्मस्य कविहृदयमध्य उच्छलनस्वभाववतो रसस्येति। तदित्थं काव्यं रचयन् कविः रसात्मना तत्र काव्ये रममाण एव भवति। एवमेव परमेश्वरोऽपि स्वात्मचमत्कारमेव विश्वभावजातरूपेणावभासयँस्तत्र रसात्मना रममाण एव सदाऽऽस्ते। इयाँश्च विशेषः यल्लौकिकः कविः परिमितशक्तिरेव न सर्वशक्तिः, परमेश्वरस्त्वनन्तशक्तिः। काव्यरसो विभावाद्यधीन एव तत्कारणकत्वात्, पारमेश्वर आनन्दस्तु, सर्वथा स्वाभाविकः परमेश्वरस्य प्रत्यभिज्ञातस्वात्मस्वरूपस्य योगिनश्च। काव्यरसः सकृदभिव्यक्तोऽपि पुनरभिव्यक्तये विभावाद्यपेक्षते, पारमेश्वर आनन्दस्तु सकृद्विभात एव। सकृद्विभातात्मस्वरूपो हि योगी न पुनरुपायजालमपेक्षते। कवेर्हृदये कादाचित्की रसाभिव्यक्तिः, ततोऽसौ कदाचिदेव काव्यनिर्माणे प्रवृत्तो भवति। परं परमेश्वरस्यानन्दचमत्कृतिः कालकलनाविहीना, ततः सर्वदैवासौ सृष्ट्यादिकृत्यकारी। कविर्हि शक्तिव्यतिरेकेण निपुणताऽभ्यासादिकारणान्तरापेक्षी काव्यसृष्टौ। परमेश्वरस्तु स्वशक्तिमात्राश्रयो विश्वं सृजति। तत एव काव्यरसस्य ब्रह्मानन्दसहोदरत्वमेव मतं न ब्रह्मानन्दत्वमेव। आनन्दत्वेन हि सर्व आनन्दो भगवानेव। परमुपाधिभेदाद्भिन्नत्वेन प्रतीयमानतयैव विषयानन्दकाव्यानन्दादयः काव्यरसस्य च शृङ्गारादयो भेदाः परिमितप्राणाः। पारमेश्वरस्तु रसः सर्वथाऽपरिमितः, न तत्र क्वापि भेदभित्तिकल्पना वस्तुतः ॥१२॥

[प्र०] एष पुराणकविर्लौकिकः कविरिव प्रकाशविमर्शौ स-

माश्रित्य काव्यानीव विश्वानि सृजति परां च प्रीतिं विन्दति।

एष लौकिकः कविः पूर्वं तावद् आत्मस्थं नैजं ज्ञानसमाख्यं प्रकाशं भूयो भूयो विमर्शेन उद्भावयति। इत्थमसौ चिकीर्षितस्य काव्यस्य कथावस्तु सृजति केवलं बुद्धौ। एष हि तस्य स्वप्रकाशस्य विमर्शः। तदनु तद् बुद्धिस्थं विविधघटनासमाकुलं कथावस्तु वाचा प्रकाशयति। एष प्रकाशविमर्शस्य (पुनः) प्रकाशः। इयमेव तस्य काव्यरचनाप्रक्रिया।

ततोऽसौ कविर्भूयो भूयः स्वरचितानि काव्यानि समालोडयन् कामपि ऐकान्तिकसुखनिर्भरां प्रीतिं लभते। एतदेव तस्य रसात्मना रमणम्। तेनोपलभ्यमानमनुभूयमानं वा सुखं शृङ्गारकरुणादिरसमयम्; न ततोऽन्यत्। अत एव तस्य रसात्मत्वम्।

अपि वा — स्वान्तःसुखसाभिलाषो हि कविः स्वकाव्यानि क्रियासमभिहारेण अधीयानः यमानन्दमनुभवति, न स भौतिकपदार्थद्वारेण लभ्यः। अत एव **आचार्यः** कवेः काव्यरचनालाभं रसात्मत्वेन स्वीकुरुते। इतोऽन्यो यो नाम धनादिलाभः स खलु लाभाभासः। अत एव 'असौ न स्पृहणीय' इत्यपि अभिप्रेतं भवति। पश्यामो धनलिप्सया कृता रचना न हि समुपयुक्ता लोकमङ्गलकारिण्यश्च भवन्ति। अद्यत्वे तासामेव प्राचुर्यम्। न तानि वस्तुतः काव्यानि, छद्मकाव्यान्येव स्युस्तानि।

ब्रह्मसंज्ञ एष विश्वकविरपि 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' इति स्वप्रकाशरूपां स्वसत्तां विमृश्य आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तानि स्वविमर्शरूपाणि विश्वानि प्रकाशयति। एष तस्य सर्गक्रमः। इमानि विश्वान्येव तस्य पुराणकवेः काव्यानि। अस्यामात्मलीलायां व्यापृतोऽसौ रसात्मना स्वात्मानन्दनिर्भरतया वा कामपि रतिं विन्दते। "रसो वै सः" इति श्रुत्या तस्य रसात्मत्वं निर्विवादम्। एतेन रसात्मना रमणं निष्प्रपञ्चमेव।

'विश्वानि कवयन्' इति शत्रन्तपदेन रमणक्रियायाः कर्त्तृत्व-निर्देशो मन्ये इदमुद्दिशति यद् विश्वरचना रसात्मना रमणं च उभयमपि समकालं प्रवर्तते। नानयोः कार्यकारणयोरिव पूर्वापर-भावः। तथा च सति विश्वकवनं न तस्य प्रीतिहेतुः। अन्यथा तत्प्रीतेः कार्यत्वेन उत्पादविनाशशीलत्वं समापद्येत। रसरूपस्य तस्य सा हि त्रिकालाबाध्या कारणान्तरानपेक्षिणी निरवच्छिन्ना वरी-वर्त्ति। न वा विश्वकवनं तत्प्रीतिहेतु। तथा स्वीकारे तत्प्रीतौ कार-णत्वस्वीकारः, कारणं च कार्यसापेक्षम्। सापेक्षत्वे च तस्या अ-सत्यत्वमसिद्धत्वं चापतेत्। उक्तमेवेदं पूर्वम्—'यद्यत्सापेक्षं तत्त-दसिद्धम्' इति।

इत्थमिदमुक्तं भवति—सा हि आत्मशक्तिः अनवरतं सर्ग-व्यापृता तिष्ठति। यथायं जीवो न जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्, तथा हि साऽऽत्मशक्तिरपि न निष्क्रिया तिष्ठति।

उपपद्यतेऽपि च यतः सा वैराजी आत्मशक्तिः (समष्टि-रूपा) अस्माद् व्यष्टिरूपाज्जीवान्न भिद्यते। उभयोरभेदे समान-स्वभावत्वमुचितम्।

अत्र सृष्टिकर्मैव निर्दिष्टम्, न संहारकर्म। यतः स शिवः कालत्रयेऽपि सर्गाभिप्रवृत्त एव तिष्ठति। एष प्रलयस्तु उत्तरोत्तर-सर्गेण पूर्वपूर्वस्य सर्गस्य अन्तर्लीनतैव उत्तरोत्तरेण तरङ्गेण पूर्वपूर्व-स्य तरङ्गस्य विलय इव। न तत्र पृथक् तस्याभासः। "सृजन्त्यवन्त्यद-तीयम्"इत्यादिकारिकायां स्फोटितमेवेदं पूर्वं यत्सर्ग एव विलयः। दिवसस्य सर्ग एव रात्रेर्विलयः, रात्रेश्च सर्गो दिवससंहारो यथा। अतोऽत्र 'विश्वानि कवयन्' इत्युक्त्वा 'संहरन्' इति नोक्तम्।

एषोऽत्र फलितार्थः—इमानि विश्वानि काव्यानि, असौ चात्मशक्तिः कविः; अस्य सृष्टिरूपस्य कविकर्मणः प्रयोजनं स्वा-

त्मानन्दमात्रमेवेति ॥१२॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
द्वादशी कारिका ।

—०***०—

[वि०] इदानीं विशेषतया दृश्यकाव्यरूपतया विश्वक्रीडावैचित्र्यमनेन पद्येन निरूप्यते —

[प्र०] सामान्येन काव्यमाश्रित्य आत्मलीलां व्याख्यातवानाचार्यः । दृश्यकाव्यस्य हि हृदयग्राहिता प्रभावोत्पादकता च श्रव्यकाव्यस्य तां शक्तिं सुतरामतिशेते । "काव्येषु नाटकं रम्यम्" इति, "नाटकं वेदानां पञ्चमो वेदः" इति च सुविश्रुतम् । सम्प्रति पुनस्तस्यैव भावस्य सुस्फीततार्थं दृश्यकाव्यं विशेषेणालम्ब्यते —

सभ्यो नटो विभावादिभावा रङ्गः स्वयं भवन् ।
स्वचरित्रानुकारेण स्वमेव भजते रसम् ॥१३॥

[वि०] नाट्यनाम्नि दृश्यकाव्ये रामसीतादिचरितमनुकार्यम्, नटा अनुकर्तारो रत्यादयः स्थायिभावाः, तदालम्बनभूता नायकनायिकादय आलम्बनविभावास्तदुद्दीपकाश्चन्द्रिकाप्रभृतय उद्दीपनविभावाः परस्परदर्शनालिङ्गनचुम्बनादयोऽनुभावा निर्वेदासूयाप्रभृतयस्सञ्चारिभावा व्यभिचारिभावा वा भवन्ति । रत्यादिं स्थायिभावमालम्बनविभावा आलम्बनदानेन स्थापयन्ति, उद्दीपनविभावाश्चोद्दीपयन्ति, अनुभावाः परप्रतीतियोग्यतामापादयन्ति, सञ्चारिणश्चान्तःकरणे व्याप्तं कुर्वन्तः सञ्चारयन्ति, ततोऽसौ स्थायिभावः परिपुष्टिं सम्पूर्णामवाप्य पूर्णतयाभिव्यक्तः सन् रसतामभ्येति । परिपूर्णपुष्टिभावमप्राप्तः सन्नसावेव भावतामवाप्नोति । रङ्गभूमौ नटा रामादीनां चरितमनुकुर्वन्तो विभावादीनेवाभिनयकलाकौशलेन

प्रकाशयन्तः स्थायिभावं रसतां नयन्ति सभ्यानामन्तःकरणेषु विद्यमानम् । नाट्यप्रेक्षकाणां सभ्यानामन्तःकरणे रत्यादयो भावाः स्थायित्वेन वर्त्तमाना अपि सर्वदाऽभिव्यक्तिं न भजन्ते । नाट्यदर्शनेन विभावादिसंयोजनेन त एव रत्यादयः सभ्यानां हृदयेषु वर्त्तमाना एव तत्रैव रसरूपतयाभिव्यज्यन्ते केवलम् , न किमपि तत्रोत्पाद्यते ।

परमेश्वरस्तु विचित्र एव नाट्यकृत् कविः । यतो निरपेक्षोऽसौ पूर्वं प्रतिपादितः, ततो निरपेक्षतयैव नाट्यमपि कवयन्नास्ते । तथाहि — स्वस्या विमर्शशक्तेरेवाऽभिव्यञ्जनं तस्य विश्वमयं नाट्यम्, तदभिनयश्च । इत्यतः स्वयमेवात्र विचित्रे नाट्येऽनुकार्यो नायकादिर्भवन् स्वयमेव चाऽनुकर्तृरूपो मायाप्रमात्रादिरूपतया नटो भवन् , स्वमेव चरित्रमनुकरोति स्वयैवाभिनयकलया । सृष्टयादिपञ्चकृत्यमेव तस्याऽभिनयकला । आसदाशिवादापशुप्रमातारमसंख्यैः रूपैर्नटवत् स्वस्वभावाऽभिव्यक्तिरूपं नाट्यमभिनयति । करणेश्वरीवर्गो हि विश्वमयनाट्यस्य भोक्तृत्वेन मतः शास्त्रेषु । स च करणेश्वरीवर्गोऽपि वस्तुतः परमेश्वररूप एव । ततः सभ्यत्वेनापि स्वयमेवाऽवभासतेऽत्र नाट्ये । विभावाऽनुभावसंचारिभावतामपि स्वयमेवासंख्यैर्लीलामयैः रूपैर्भजते । यतः स्वमेव चरित्रमभिनयति, ततस्तच्चरित्रमध्यपातिनो विभावाऽनुभावव्यभिचारिभावा अपि स्वचरित्राङ्गकल्पत्वेनाऽऽत्मभूता एवास्य महानटस्य । कविरपि कल्पनाशीलोऽसौ स्वयमेव प्राक् प्रतिपादितः । एवंविधस्य महानाटकाभिनयस्याश्रयभूतो रङ्गोऽप्यसौ स्वयमेव भवन्नास्ते । यतो हि विश्ववैचित्र्यं स्वस्मिन्नेवाऽविचित्रे समभित्तितलोपमेऽवभासयतीति प्रतिपादितं प्राक् । तत एतदयत्नसिद्धं तस्य रङ्गभूमितया स्वयमेवाऽवभासनम् । ये च भावा रसपदवीमप्राप्ताः स्थायिनः ते तद्रूपेणापि (भावरूपेणापि) स्वयमेवाऽवभासन्ते । तथाहि — कदाचित् केनाऽपि रूपेणाऽऽरुरुक्षुरयं भगवान् न परिपूर्णां स्वरूपप्रत्यभिज्ञां हृदयङ्गमीकरोति, प्रत्युत मध्यविश्रान्तिस्थान एव क्वचन शून्ये वा, प्रकाशमात्रे वा, क्रियाशक्तावेव वा, अन्यत्र वा

क्वापि विश्रान्तिं भजमानस्तल्लाभेनैव कृतकृत्यताममभिमन्यमानस्तत्रैव कंचित् कालं तिष्ठति । तदेवं कुर्वन् परिपूर्णरसपदवीमप्राप्नुवन् भावरूपेणाऽवभासत इव । सर्वत्र हि जीवनिकाये प्रकाशविमर्शरूपता स्वसंवेदनसिद्धैव । परमसौ जीवभावे तदुचितेनाऽपरिमितरूपेण न चकास्तीति तस्यास्तथा प्रकाशनायैवोपायाश्रयणम् । उपायैर्हि केवलमभिव्यज्यतेऽसौ तेन स्वोचितेन रूपेण स्थायिभावोऽप्येवमेव सामाजिकेषु, वर्त्तमान एव विभावादिभिरभिव्यज्यते । तदत्र विश्वमये रङ्गे सावधानैर्विवेकवद्भिरत्राभिनीयमानविश्वनाट्यविभावनानुभावनादिनैवोपायेन स्थायिरूपोऽसौ प्रकाशविमर्शरूपः स्वात्मपरमेश्वर एव । तेन पारमेश्वराऽऽत्मना रूपेणाऽभिव्यज्यमानः साक्षात् क्रियते सुखोपायमेव । तदित्थं परमेश्वरोऽभिव्यज्यमानः स्वमेव रसं पूर्णचिदानन्दघनं भजते । किं च स्वशक्त्युल्लासमात्रं लीलाकैवल्यं तस्य सृष्ट्याद्यभिनयनं ततोऽप्यसावेवमभिनयन् स्वमेव कंचनाऽनिर्वचनीयं रसं रसयन्नाऽऽस्ते । तत एवोपदिष्टं श्रीशिवसूत्रेषु — "नर्तक आत्मा"(३/९) "रङ्गोऽन्तरात्मा"(३/१०) "प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि"(३/११) इति । एवमस्य न केवलं कवित्वमेव, यावद्रङ्गादित्वमपि नटादित्वमपि च सकलमस्यैव परमेश्वरस्य स्फुटमवभासत इत्यलं बहुना विस्तरेण । ॥१३॥

[प्र०] स प्रसिद्धः परमात्मा । अस्मिन् विश्वरूपे रूपके बहिरन्तर्यत्र तत्र सर्वत्र ओतप्रोतः । यतो रूपकस्य (अभिनयात्मकस्यास्य विश्वकाव्यस्य) येऽपि व्यवहारे स्थूलदृशा विभिन्ना विविधा अवयवा दृश्यन्ते न ते वस्तुतस्तं परमात्मानमन्तरा कामपि सत्तां दधति । एतदेवोद्घुष्यते कारिकायामस्याम् —

दृश्यकाव्ये हि इमे अवयवा भवन्त्यपेक्षिताः — (१) सभ्यो नाम नाटकस्य द्रष्टा, यदर्थमभिनयः क्रियते । (२) नटोऽभिनेता, रूपकस्य चेतनाशक्तिरिव । (३) विभावादिभावाः खलु रसोत्पादका विभावा अनुभावाः सञ्चारिणः स्थायिभावाश्च । (४) रङ्गोऽ-

भिनयमञ्चः । (५) स्वचरित्रानुकारेण — चरित्राणि = पात्राणि प्रकृता ऐतिहासिका रामादयः कविकल्पिता वा पुरुषा येषां चरितमनुक्रियते नटैः । (६) (पुनः) चरित्रं = कथावस्तु । (७) रसस्तु काव्यात्मभूतः सर्वस्यास्य प्रस्तारस्य यत्र पर्यवसानम् । एष सर्वोऽपि प्रपञ्चो न स्वरूपतस्तथा यथाऽयमनुभूयते । यतो यो नामायं सभ्यो नटो रङ्गश्च, ये नाम भावा विभावाश्च, यानि चाऽनुक्रियमाणानि चरित्राणि, यश्चानुभूतिगोचरस्तत्र रसः, सर्वमप्येतत् परस्परविलक्षणं रूपमाधाय स एक एव रसात्मा स्वं रसरूपं विन्दते । "तेन तस्यैव दर्शनं, अद्वैतमिदं सर्वम्" इति च आचार्यहृदयम् ।

यतो रसघनो रसात्मा हि सः, तस्माद् रूपक(नाटक)मिदं रसात्मकत्वान्न ततो व्यतिरिच्यते । इदं महानाटक(विश्वकाव्य)मपि तद्रूपकमेव । अनयोरुभयोरुपमानोपमेयभावो वाग्विषयमात्रमेव ।

प्रक्रियानिर्देशः — तत्त्वजिज्ञासुना महाभाग्यशालिना जीवेन वाङ्मयाध्ययनकाले काव्यस्य प्रत्येकमङ्गे तदेकमेव तत्त्वं पश्यता आत्मलयसुखानुभूतेरभ्यासः कार्यः । तथैव दैनिके व्यवहारेऽपि जगदिदं काव्यकल्पमुपलक्ष्य स एवाभ्यासः समाश्रयणीयः । तस्य दृढतायां तु द्वैतदर्शनं सर्वथा प्रविलीयेत । तथा च सति न कदापि स्वपतो जाग्रतो वाऽस्य शोकावसरः । अत एव चोपनिषदि—"तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" । इत्युक्तम् । भवतु ॥१३॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
त्रयोदशी कारिका ।

—०***०—

[वि०] द्विप्रकारो ह्ययं भगवतः स्वशक्त्युल्लासो नामत्वेनाऽवभासनं, रूपत्वेनाऽवभासनं च। नामरूपे एव हि कल्पयन् परमेश्वरः कवित्वं भजते। रूपकल्पनया षट्त्रिंशत्तत्त्वतयाऽवभासते। अखिलं हि विश्वं षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकमेवेति रूपकल्पनेयमस्य सुप्रसिद्धैव। यद्यद्रूपं चकास्ति तत्तत्केनापि नाम्ना चकास्ति। इत्थं नामकल्पना च यदि स्फुटैव रूपकल्पनावत्, तथाप्यस्याः किंचन रहस्यमस्ति प्रबुद्धजनवेद्यम्। ततस्तद्विषयं किंचिन्मात्रं निर्दिश्यते द्वाभ्याम्। तत्रापि चतुर्दशेन समस्तस्य वाङ्मयस्य सारतया बिन्दुरेव बीजमिति प्रतिपाद्यते —

[प्र०] न केवलं काव्यमेव अपि तु सर्वमपि वाङ्मयमद्वैतमूलम्। तच्च बिन्दुशक्त्युद्भवं तदनतिरिक्तं च। एतेन विश्वस्यास्य सर्गस्य बिन्दुशक्त्युद्भवत्वं तदनतिरिक्तत्वं च हस्तामलकवद् असन्दिग्धबोधविषयो जायते। तदर्थमेव अनुग्रहवानाचार्य आह —

रेखा बिन्दुं लिपी रेखां पदानि लिपिमन्तरा।
वाक्यं पदानि ग्रन्थोऽपि वाक्यानि नहि विद्यते १४

[वि०] बिन्दुरेव हि यदा प्रसरति तदा रेखारूपतामवाप्नोति, ततो बिन्दुमन्तरा = विना रेखा न विद्यत एव। प्रसृतबिन्दुमय्येव रेखा। रेखापि वृत्तत्रिकोणादिरूपतया प्रसरन्ती वर्णभावं लिपिसमाख्यं लभते। ततो रेखामन्तरा लिपेरभावः तस्या रेखामयत्वादेव। एवमेव लिपिरूपा वर्णा एव प्रकृतिप्रत्ययादिरूपतया यथायथं मिलिताः सन्तः पदत्वं समासादयन्ति। ततो वर्णैर्विना पदानामसम्भवः। आकाङ्क्षादिमतां पदानां संघट्ट एव हि वाक्यम्। ततः पदानि विना वाक्यस्य न सम्भवः। एवमेव एकविषयतानिबन्धनानि वाक्यान्येव मिलितानि ग्रन्थरूपतयावभासन्ते, ततो वाक्यानि विना ग्रन्थस्य सत्तापि नास्ति। इत्थं पर्यन्ततो बिन्दुरूपमेव सर्वं शाब्दोल्लासरूपं वाङ्मयम्। वाङ्मयत्वेनाऽवभासनं भगवतो

नामतयोल्लसनम् । बिन्दुश्च सिततया शोणतया च भासमानोऽपि वस्तुतः सितत्वशोणत्वसमरसाकारो भगवान् महेश्वर एव भ्रूमध्येऽवधानवद्भिः सुप्रबुद्धैः साक्षात्कार्यः । तन्मयमेवेदं सर्वं व्याख्यातं मनागित्यलं रहस्याऽरहस्यनेन ॥१४॥

[प्र०] हि (निश्चयेन) बिन्दुमन्तरा रेखा, रेखां (अन्तरा) लिपिः (वर्णाः); लिपिं (अन्तरा) पदानि, पदानि (अन्तरा) वाक्यानि, वाक्यानि (अन्तरा च) ग्रन्थः अपि न विद्यते । इत्थं ग्रन्थात्पूर्वपूर्वाऽनुसरणेन बिन्दौ विरामः । अतो 'बिन्दुमूलमशेषं वाङ्मयम्' इत्येव निष्पद्यते ।

इयमत्रोपपत्तिः — ग्रन्थो नाम वाक्यसमूहः । वाक्यं पुनः पदान्वयमात्रम्, पदं वर्णानां सङ्घात एव; वर्णाश्च रेखामयाः; रेखाश्च बिन्दुपरम्परा एव । तथा च सति सर्वोऽपि लेखबद्धो ग्रन्थो बिन्दुरूप एव । अशेषमिदं वाङ्मयं च लेखनीप्रसूतं बिन्दोर्नातिरिच्यते ।

यथाऽशेषमिदं वाङ्मयं केवलं बिन्दोः प्रस्तारः; तथाऽशेषमिदं जगदपि तस्यैव विस्तारः । इमाः सर्वा अपि दृश्यमाना नानाविधाः परस्परं सुतरां भिन्ना आकृतयो वर्णाकृतय इव समानतत्त्वा न वस्तुतः परस्परं भिद्यन्ते ।

एतद् वाङ्मयाऽद्वैतं ब्रह्माद्वैतनिदर्शनम् । प्रथमकारिकाव्याख्याने स्थितं 'अहंविज्ञानाम्' इत्यस्य वाङ्मयपक्षीयं विवरणमत्र पुनः परिशीलनीयम् । अस्तु ॥१४॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
चतुर्दशी कारिका ।

—०***०—

क्वापि विश्रान्तिं भजमानस्तल्लाभेनैव कृतकृत्यतामभिमन्यमानस्तत्रैव कंचित् कालं तिष्ठति । तदेवं कुर्वन् परिपूर्णरसपदवीमप्राप्नुवन् भावरूपेणाऽवभासत इव । सर्वत्र हि जीवनिकाये प्रकाशविमर्शरूपता स्वसंवेदनसिद्धैव । परमसौ जीवभावे तदुचितेनाऽपरिमितरूपेण न चकास्तीति तस्यास्तथा प्रकाशनायैवोपायाश्रयणम् । उपायैर्हि केवलमभिव्यज्यतेऽसौ तेन स्वोचितेन रूपेण स्थायिभावोऽप्येवमेव सामाजिकेषु, वर्त्तमान एव विभावादिभिरभिव्यज्यते । तदत्र विश्वमये रङ्गे सावधानैर्विवेकवद्भिरत्राभिनीयमानविश्वनाट्यविभावनानुभावनादिनैवोपायेन स्थायिरूपोऽसौ प्रकाशविमर्शरूपः स्वात्मपरमेश्वर एव । तेन पारमेश्वराऽऽत्मना रूपेणाऽभिव्यज्यमानः साक्षात् क्रियते सुखोपायमेव । तदित्थं परमेश्वरोऽभिव्यज्यमानः स्वमेव रसं पूर्णचिदानन्दघनं भजते । किं च स्वशक्त्युल्लासमात्रं लीलाकैवल्यं तस्य सृष्ट्याद्यभिनयनं ततोऽप्यसावेवमभिनयन् स्वमेव कंचनाऽनिर्वचनीयं रसं रसयन्नाऽऽस्ते । तत एवोपदिष्टं श्रीशिवसूत्रेषु — "नर्तक आत्मा"(३/६) "रङ्गोऽन्तरात्मा"(३/१०) "प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि"(३/११) इति । एवमस्य न केवलं कवित्वमेव, यावद्रङ्गादित्वमपि नटादित्वमपि च सकलमस्यैव परमेश्वरस्य स्फुटमवभासत इत्यलं बहुना विस्तरेण । ॥१३॥

[प्र०] स प्रसिद्धः परमात्मा । अस्मिन् विश्वरूपे रूपके बहिरन्तर्यत्र तत्र सर्वत्र ओतप्रोतः । यतो रूपकस्य (अभिनयात्मकस्यास्य विश्वकाव्यस्य) येऽपि व्यवहारे स्थूलदृशा विभिन्ना विविधा अवयवा दृश्यन्ते न ते वस्तुतस्तं परमात्मानमन्तरा कामपि सत्तां दधति । एतदेवोद्घुष्यते कारिकायामस्याम् —

दृश्यकाव्ये हि इमे अवयवा भवन्त्यपेक्षिताः — (१) सभ्यो नाम नाटकस्य द्रष्टा, यदर्थमभिनयः क्रियते । (२) नटोऽभिनेता, रूपकस्य चेतनाशक्तिरिव । (३) विभावादिभावाः खलु रसोत्पादका विभावा अनुभावाः सञ्चारिणः स्थायिभावाश्च । (४) रङ्गोऽ-

भिनयमङ्गः । (५) स्वचरित्रानुकारेण — चरित्राणि = पात्राणि प्रकृता ऐतिहासिका रामादयः कविकल्पिता वा पुरुषा येषां चरितमनुक्रियते नटैः । (६) (पुनः) चरित्रं = कथावस्तु । (७) रसस्तु काव्यात्मभूतः सर्वस्यास्य प्रस्तारस्य यत्र पर्यवसानम् । एष सर्वोऽपि प्रपञ्चो न स्वरूपतस्तथा यथाऽयमनुभूयते । यतो यो नामायं सभ्यो नटो रङ्गश्च, ये नाम भावा विभावाश्च, यानि चाऽनुक्रियमाणानि चरित्राणि, यश्चानुभूतिगोचरस्तत्र रसः, सर्वमप्येतत् परस्परविलक्षणं रूपमाधाय स एक एव रसात्मा स्वं रसरूपं विन्दते । "तेन तस्यैव दर्शनं, अद्वैतमिदं सर्वम्" इति च आचार्यहृदयम् ।

यतो रसघनो रसात्मा हि सः, तस्माद् रूपक(नाटक)मिदं रसात्मकत्वान्न ततो व्यतिरिच्यते । इदं महानाटक(विश्वकाव्य)-मपि तद्रूपकमेव । अनयोरुभयोरुपमानोपमेयभावो वाग्विषय-मात्रमेव ।

प्रक्रियानिर्देशः — तत्त्वजिज्ञासुना महाभाग्यशालिना जीवेन वाङ्मयाध्ययनकाले काव्यस्य प्रत्येकमङ्गे तदेकमेव तत्त्वं पश्यता आत्मलयसुखानुभूतेरभ्यासः कार्यः । तथैव दैनिके व्यवहारेऽपि जगदिदं काव्यकल्पमुपलक्ष्य स एवाभ्यासः समाश्रयणीयः । तस्य दृढतायां तु द्वैतदर्शनं सर्वथा प्रविलीयेत । तथा च सति न कदापि स्वपतो जाग्रतो वाऽस्य शोकावसरः । अत एव चोपनिषदि—'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" । इत्युक्तम् । भवतु ॥१३॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
त्रयोदशी कारिका ।

—०****०—

[वि०] द्विप्रकारो ह्ययं भगवतः स्वशक्त्युल्लासो नामत्वेनाऽवभासनं, रूपत्वेनाऽवभासनं च । नामरूपे एव हि कल्पयन् परमेश्वरः कवित्वं भजते । रूपकल्पनया षट्त्रिंशत्तत्त्वतयाऽवभासते । अखिलं हि विश्वं षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकमेवेति रूपकल्पनेयमस्य सुप्रसिद्धैव । यद्यद्रूपं चकास्ति तत्तत्केनापि नाम्ना चकास्ति । इत्थं नामकल्पना च यदि स्फुटैव रूपकल्पनावत्, तथाप्यस्याः किंचन रहस्यमस्ति प्रबुद्धजनवेद्यम् । ततस्तद्विषयं किंचिन्मात्रं निर्दिश्यते द्वाभ्याम् । तत्रापि चतुर्दशेन समस्तस्य वाङ्मयस्य सारतया बिन्दुरेव बीजमिति प्रतिपाद्यते —

[प्र०] न केवलं काव्यमेव अपि तु सर्वमपि वाङ्मयमद्वैतमूलम् । तच्च बिन्दुशक्त्युद्भवं तदनतिरिक्तं च । एतेन विश्वस्यास्य सर्गस्य बिन्दुशक्त्युद्भवत्वं तदनतिरिक्तत्वं च हस्तामलकवद् असन्दिग्धबोधविषयो जायते । तदर्थमेव अनुग्रहवानाचार्य आह —

रेखा बिन्दुं लिपी रेखां पदानि लिपिमन्तरा ।
वाक्यं पदानि ग्रन्थोऽपि वाक्यानि नहि विद्यते १४

[वि०] बिन्दुरेव हि यदा प्रसरति तदा रेखारूपतामवाप्नोति, ततो बिन्दुमन्तरा = विना रेखा न विद्यत एव । प्रसृतबिन्दुमय्येव रेखा । रेखापि वृत्तत्रिकोणादिरूपतया प्रसरन्ती वर्णभावं लिपिसमाख्यं लभते । ततो रेखामन्तरा लिपेरभावः तस्या रेखामयत्वादेव । एवमेव लिपिरूपा वर्णा एव प्रकृतिप्रत्ययादिरूपतया यथायथं मिलिताः सन्तः पदत्वं समासादयन्ति । ततो वर्णैर्विना पदानामसम्भवः । आकाङ्क्षादिमतां पदानां संघट्ट एव हि वाक्यम् । ततः पदानि विना वाक्यस्य न सम्भवः । एवमेव एकविषयतानिबन्धनानि वाक्यान्येव मिलितानि ग्रन्थरूपतयावभासन्ते, ततो वाक्यानि विना ग्रन्थस्य सत्तापि नास्ति । इत्थं पर्यन्ततो बिन्दुरूपमेव सर्वं शाब्दोल्लासरूपं वाङ्मयम् । वाङ्मयत्वेनाऽवभासनं भगवतो

नामतयोल्लसनम् । बिन्दुश्च सिततया शोणतया च भासमानोऽपि वस्तुतः सितत्वशोणत्वसमरसाकारो भगवान् महेश्वर एव भ्रूमध्येऽवधानवद्भिः सुप्रबुद्धैः साक्षात्कार्यः । तन्मयमेवेदं सर्वं व्याख्यातं मनागित्यलं रहस्याऽरहस्यनेन ॥१४॥

[प्र०] हि (निश्चयेन) बिन्दुमन्तरा रेखा, रेखां (अन्तरा) लिपिः (वर्णाः); लिपिं (अन्तरा) पदानि, पदानि (अन्तरा) वाक्यानि, वाक्यानि (अन्तरा च) ग्रन्थः अपि न विद्यते । इत्थं ग्रन्थात्पूर्वपूर्वाऽनुसरणेन बिन्दौ विरामः । अतो 'बिन्दुमूलमशेषं वाङ्मयम्' इत्येव निष्पद्यते ।

इयमत्रोपपत्तिः — ग्रन्थो नाम वाक्यसमूहः । वाक्यं पुनः पदोच्चयमात्रम्, पदं वर्णानां सङ्घात एव; वर्णाश्च रेखामयाः; रेखाश्च बिन्दुपरम्परा एव । तथा च सति सर्वोऽपि लेखबद्धो ग्रन्थो बिन्दुरूप एव । अशेषमिदं वाङ्मयं च लेखनीप्रसूतं बिन्दोर्नातिरिच्यते ।

यथाऽशेषमिदं वाङ्मयं केवलं बिन्दोः प्रस्तारः; तथाऽशेषमिदं जगदपि तस्यैव विस्तारः । इमाः सर्वा अपि दृश्यमाना नानाविधाः परस्परं सुतरां भिन्ना आकृतयो वर्णाकृतय इव समानतत्त्वा न वस्तुतः परस्परं भिद्यन्ते ।

एतद् वाङ्मयाऽद्वैतं ब्रह्माद्वैतनिदर्शनम् । प्रथमकारिकाव्याख्याने स्थितं 'अहंविज्ञानाम्' इत्यस्य वाङ्मयपक्षीयं विवरणमत्र पुनः परिशीलनीयम् । अस्तु ॥१४॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते

श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे

चतुर्दशी कारिका ।

—०****०—

[वि०] पञ्चदशेन शिवरूपस्य बिन्दोरेव विकसनकल्पं सकलवाङ्मयतयाऽवभासनं प्रतिपाद्यते —

[प्र०] "सर्वं खल्विदं बिन्दुः" इति वाङ्मयाद्वैतं निर्दिश्य तस्य प्रकृते आत्मतत्त्वे समन्वयं कर्त्तुमाचार्यः प्रक्रमते —

अचिन्त्यया विसर्गाख्यनिजशक्त्या स्वरूपया ।
बिन्दुरेव शिवो भाति समस्तं वाङ्मयं सदा ।१५।

[वि०] 'परमेश्वरो हि बिन्दुरूपः' इति प्रतिपादितम् । शिवरूपोऽसौ बिन्दुरेव हि सदा वर्णादिक्रमेण सकलवाङ्मयतामवाप्नुवन् तद्रूपतया सदाऽवभासते । एवंरूपेण यदस्य भासनं तदस्य विसर्गशक्तिमाहात्म्यविजृम्भितम् । सा चास्य विसर्गशक्तिः स्वरूपा = स्वात्मरूपैव, बिन्दुरूपैव वस्तुतः । लोकेऽपि बिन्दुरेवोत्तराधरतयाऽवस्थितः सन् विसर्गः = सृष्ट्यादिनिर्माणसामर्थ्यमपि परमेश्वरस्य विसर्गशक्तिः । मातृकाक्रमेऽनाश्रितारूयादारभ्य विसर्गान्तं शिवमयत्वमेव शक्तिवनमङ्गीकृतम् । तदधश्च हकारान्तं जडतत्त्वरूपत्वम् । हकारोऽपि हि उच्छूनरूपतां प्राप्तो विसर्ग एव वस्तुतः । वैयाकरणैरपि कैश्चन विसर्गस्यार्धहकारतोच्चारणस्थानप्रयत्नबलादङ्गीकृता । तदित्थं परिपूर्णाहंपरामर्शरूप एव हि शिवो बिन्दुरूपः स्वकीयया विसर्गशक्त्या शिवरूपया समस्तवाङ्मयतां भजते । वाङ्मयता च प्रकाशरूपस्य बिन्दोर्विमर्शरूपतापि । विमर्शो हि सदैव वागात्मैव । तत एव परविमर्शः परावागिति गदिता श्रीभर्तृहरिप्रभृतिभिराचार्यमहोदयैः । विसर्गशक्तिश्चाऽस्य बिन्दुरूपस्य शिवस्य न कस्यापि प्रमातुर्बुद्धिगम्या । अत एवाचिन्त्येतिविशेषणेन विशिष्टा । सुप्रबुद्धैरेव समावेशोपायबलेन साक्षात्कार्याऽसाविति नाऽत्र रहस्यभूते विषये विस्तरो न्याय्यः ॥१५॥

[प्र०] बिन्दुरेव शिवः । स च सदा वाङ्मयं (सत्)

भाति। बिन्दोर्हि प्रतीतिर्वाणीद्वारेणैव तस्य उच्चार्यत्वात्। बिन्दुर्नादविशेषः; स च नोच्चारणमन्तरा कामपि सत्तां धत्ते। बिन्दुरेखादीनां चक्षुर्ग्राह्या आकृतयो व्यवहारोपयोगाय कल्पनाविशेषा एव।

अपि वा — इयं वाक् 'मूलत उच्चारणरूपा क्लृप्तिविशेषाच्च लेखरूपा' इति द्वेधा प्रवर्तते।

बिन्दोरेवेयं प्रवृत्ता धाराद्वयी सर्वस्य प्रतीतिविषयो भवति। 'स बिन्दुर्वाङ्मयरूपेण भासते' इति न कादाचित्कम्, अपि तु सदा भाति। अत एव सदापदोपादानम्। यदा कदाऽपि कस्यचिद् भानगोचरो भवति तदाऽविकल्पेन वाङ्मयं (वाक्स्वरूपेण) एव भाति। अपि च 'व्यक्तिविशेषस्य प्रतिव्यक्ति वा बिन्दोः प्रतीतिर्यद्यपि कदाचित्की सान्तराया च इति प्रतीमस्तथापि अनन्तैर्जीवैः कालभेदेन गृह्यमाणेयं प्रतीतिधारा निरवच्छिन्ना अस्खलिता वा प्रवहति। अपि वा अस्खलितं प्रवृत्तोऽयं शब्दप्रवाहः सर्वेण सर्वदा जानताऽजानतेव वाऽनुक्षणं कर्णशष्कुलीगोचरः क्रियते। एतेनापि तस्य नादमूलस्य बिन्दोः कदाचित्स्थूलरूपेण कदाचिच्च सूक्ष्मरूपेण सदा भानमुपपद्यत एव।

सा हि बिन्दोर्विसर्गाख्या शक्तिर्यया साधनभूतयाऽयं भाति। विसर्गो नाम विसृष्टिः। सैव विसर्गशक्तिः। अयं बिन्दुः स्वतो विसृष्टो बिन्दुद्वयीरूपो विसर्गाख्यां लभते। अत्र बिन्दोरधः प्रच्यव एव (':') एतदाकारो विसर्गः। बिन्दोः पूर्णत्वादेव तस्माद् बिन्द्वन्तरसमुद्भवेऽपि तत्प्रच्यवेऽपि वा तस्य स्वस्मिन् पूर्णताऽक्षुण्णा। तथा च श्रुतिः —

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ इति

एषा बिन्द्वन्तरसमुद्भवरूपा विसर्गपरम्परा रेखां लिपिं

पदानि वाक्यानि ग्रन्थाँश्च समुद्भावयति ।

बिन्दोरियं विसर्गशक्तिर्न इयत्तासमुद्वलिता । अपरिमिता किल सा । अत एव अचिन्त्या । इयं विसर्गाभिधा शक्तिर्न कुतश्चिदादीयते बिन्दुना; तस्य नैजी हि इयम् । अत एव 'निजशक्त्या' इत्युक्तम् ।

इह नैजमपि वस्तु स्वतो भिन्नमुपलभामहे, स्वकीयं गृहं धनमन्नं वस्त्रादि च स्वरूपतो भिद्यते । परं नेयं बिन्दोः शक्तिस्तथा । 'इयं तस्मादभिन्ना तद्रूपिण्येव' इति 'स्वरूपया' पदविन्यासेन विशदीक्रियते । स्वं बिन्दुरेव रूपं यस्याः सा स्वरूपा तया ।

अन्तर्निहितविसर्गशक्तिरेष बिन्दुः शिवः स चोद्भावितान्तःशक्तिर्वाङ्मयरूपेण प्रकाशते इति फलितोऽर्थः ।

अपि च — यथा एकोऽद्वितीयो बिन्दुः कृत्स्ने वाङ्मयेऽनुस्यूतस्तिष्ठति तथैव एकमद्वितीयं शिवतत्त्वमशेषेऽस्मिन् पञ्चप्रपञ्चेऽन्तर्निगूढं सर्वस्य स्फुरणगोचरो भवति ।

अपि च – शिवो बिन्दुरेव शिव एव बिन्दुर्वा, स च वाङ्मयं (वाक्स्वरूपेण) भाति । समस्तमिदं वाङ्मयं यतो बिन्दुघनं विराजते; अतस्तद्रूपेण या प्रतीतिः सा शिवस्यैव । सोऽयं शिवः स्वया विसर्गनाम्न्या शक्त्या खलु आत्मप्रदर्शनसमर्थो भवति । सेयमियत्ताऽनवधारणादचिन्त्या । स्वेनैवोद्भाविता यतस्ततो निजा = आत्मस्वरूपतोऽभिन्ना, अत एव स्वरूपा ।

इयं हि शिवस्य विसर्गशक्तिः सृष्टिसंहृतिपरा तस्मिन् शिवबिन्दौ उद्भवति तिरोभवति च । इमावाविर्भावतिरोभावौ अनुक्षणमविरामं युगपत्प्रवर्त्तेते । 'कदा कुत्र आविर्भावस्तिरोभावो वा इति निपुणं निरीक्षमाणेनापि विज्ञेन यतो नावधारयितुं शक्यतेऽलातचक्रगतिरिव, तस्मान्नूनमचिन्त्या खल्वेषा शक्तिः ।

'एष उद्भवस्तिरोभावो वा, इत्यपि को नाम निश्चेतुं प्रभवेत् ? एकस्य आविर्भाव एव तु तत्प्रतियोगिनस्तिरोभावः। इमे षड् भावविकारा आविर्भावतिरोभावमूला युगपदुभौ समाश्रित्य प्रवर्त्तन्ते। इयमेव हि पूर्णिमा (राका) तिथिः —

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना
मािविष्कृताऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥ (कालिदासस्य)

इमावुभावपि प्रकाशतमसी इव स्वरूपतोऽत्यन्तं विरुद्धावपि अन्योन्यसम्बद्धौ। इत्थमनयोः परस्परविश्लेषणं सर्वस्यापि शक्तिबाह्यम्। अतोऽपि तु अचिन्त्या सा।

वस्तुतस्तु आविर्भावतिरोभावयोः परस्परसापेक्षतया सत्ता कल्पितैव। अतश्च साऽसिद्धा। अनुभूतिगोचरस्तु प्रत्यात्म भवतीत्याविर्भावतिरोभावस्वरूपिणीयं बिन्दुनिष्ठा विसर्गाख्या शक्तिरचिन्त्या।

इदं निःशेषं वाङ्मयं तत्प्रसिद्धमात्मतत्त्वं च शिवाऽपरपर्यायमेव। नाऽस्य तदतिरिक्ता स्थितिस्तत्त्वविवित्सुना क्षणमप्यूहनीया। सोऽयं बिन्दुविलास आत्मविलास एव। सर्वं रहस्यं नैकत्र प्रकटनीयमित्यलमस्तु ॥१५॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
पञ्चदशी कारिका

—०****०—

[वि०] त्रिभिः श्लोकैः पुनः कवित्वमेव परमेश्वरस्य विमृश्यते भङ्ग्यन्तरेण। तत्र षोडशेन परमेश्वरस्य कवेर्विश्वात्मके काव्ये वाच्य-

वाचकभावादित्रयमित्थं प्रतिपाद्यते —

[प्र०] देहदेहिनोरिव शब्दार्थयोः सम्बन्धः । देही च परिच्छिन्नतामुपगत आत्मा । सोऽपि देहसमकक्ष एवेति साहित्यशास्त्रिणां 'शब्दार्थौ शरीरम्' इति वचः सङ्गच्छते । प्रथमं तावद् वाङ्मयस्य बिन्दुरेखाद्यात्मकं शरीरं विवेचनागोचरीकृतम् । सम्प्रति तदात्मभूतोऽर्थो विविच्यते । तेन महाभूतप्रपञ्चेऽस्मिन् शिवस्य स्थितिर्व्याकृता भवति । तथाहि —

वाच्यवाचकसम्बन्धाल्लक्ष्यलक्षकयोगतः ।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावाच्च महार्थः प्रस्फुरेच्छिवः १६

[वि०] काव्ये हि शब्दानां त्रिविधत्वं वाचकलक्षकव्यञ्जकत्वरूपम् । अर्थानामपि वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यरूपतया त्रैविध्यम् । ततोऽभिधालक्षणाव्यञ्जनाख्यं व्यापारत्रयम् । चतुर्थ्यास्तात्पर्याख्याया वृत्त्याः अन्विताभिधानवादिभिः सुबाधितत्वात् । संकेतितार्थप्रतिपादकः शब्दो वाचकः सन् वाच्यमर्थमभिधत्ते, तदसौ तस्याऽभिधाव्यापारः । कदाचित् कश्चित् शब्दो "गङ्गायां घोषः" इत्यादिरूपः वाच्यार्थसम्बन्धबाधे सति तत्सम्बन्धिनं तटादिरूपमर्थं लक्षयतीति तस्य गङ्गादिपदस्य लक्षकत्वं, तटादेरर्थस्य लक्ष्यत्वं व्यापारस्यास्य लक्षणात्वं स्पष्टम् । वाचकस्य लक्षकस्य च शब्दस्य, शब्दांशस्य प्रकृतिप्रत्ययादेः, वर्णस्य, वाक्यस्य, प्रबन्धस्य रचनाया, अर्थजातस्य, वस्तुनोऽलङ्कारस्य चेष्टादेर्वेति सर्वेषामप्येषां कोऽप्यपरो व्यापारो व्यञ्जनाख्यो येन व्यङ्ग्यमर्थं व्यञ्जयन्ति सर्वे । काव्ये हि प्रधानत्वेन विवक्षितो योऽर्थो रसादिः स तु सदैव व्यङ्ग्यरूप एव विभावादिसंयोगादिभिर्व्यज्यत एव नाभिधीयते न चापि लक्ष्यते । अस्तु तावदवान्तरमिदमेतावदेव । प्रकृते यथा काव्येऽभिधाख्याद्वाच्यवाचकभावाल्लक्षणाख्याल्लक्ष्यलक्षकभावाद् व्यञ्जनाख्याच्च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावाद् वस्त्वलङ्काररसादिरूपो विवक्षितोऽर्थः प्रस्फुरति = स्फुटतया हृदयङ्गमी भवति

जनानां, तथैवाऽत्र विश्वात्मकेऽपि परमेश्वरस्य कल्पनासारे काव्ये शिव एव महार्थः = महानर्थः, प्रस्फुरेत् = प्रस्फुरितुं शक्नोतीति शक्याऽर्थे लिङ्। सुप्रबुद्धानां प्राणायामादिकष्टकल्पनामन्तरैव सुखोपायं प्रस्फुरितुं शक्नोति। यथा खलु काव्येन सरसतापादनतया सुखोपायेन जनस्य रामा दिवत् प्रवर्तनोपदेशो हृदयङ्गमी कार्यते, तथैवाऽत्र जगति शिवोऽपि साव-धानैः सुप्रबुद्धैः सुखोपायमेव साक्षात् क्रियते। परमियानत्रभेदः, काव्यस्य हि मुख्यतया विवक्षितोऽर्थो रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरूपः केवलं व्य-ङ्ग्य एव। नासौ कदाऽपि वाच्यत्वं लक्ष्यत्वं वा स्पृशति। इह तु शिव एवाऽर्थः। स च वाच्योऽपि, लक्ष्योऽपि, व्यङ्ग्योऽपि, त्रितयात्मकोऽपि, त्रि-तयोत्तीर्णोऽपि, सर्वथा परिपूर्णतया लेशमात्रस्यापि वैकल्यस्य स्पर्शमसह-मानः सन् महार्थ इति काव्यार्थत्रयविलक्षणत्वेन प्रतिपादनार्हः, ततो व्या-पारत्रयेणाऽप्यसौ प्रत्येकत्र महार्थरूपत्वेनैव प्रस्फुरति न केवलेन वाच्या-दिनाऽर्थत्वेन कदाचित्। एतद्धर्येवास्य परिपूर्णत्वं महार्थत्वम्। किञ्च सा-पेक्षाणां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यानां त्रयाणामप्यर्थानां यस्मिन्नाश्रयत्वेन स्थिते महाप्रकाशवपुषि शिवेऽवभासो जायते, असौ सर्वार्थावभासभित्तिभूतत्वा-दपि महार्थः शिवः। वाच्यवाचकभावोऽस्य परमेश्वरस्य मातृकाक्रमे मा-लिनीक्रमे वा अनाश्रिताद्याख्यैर्बीजमन्त्रैः साकं बोद्धव्यः। परमियाँस्तत्र विशेषः — वाचको हि संकेतितमेवार्थमभिधत्ते। शिवश्च न संकेतस्प-र्शमर्हति। यतः संकेतस्तत्स्मृतिश्च विकल्परूपत्वेन भासते, परमेश्वरो ह्यविकल्पाऽहंप्रकाशः। ततः संकेतनिरपेक्षमेवाना श्रितादिबीजमन्त्रैर्निर्वि-कल्पपरामर्शेन महार्थः शिवः प्रस्फुरत्येव सुप्रबुद्धानाम्। अत एव हि पातञ्जलं सूत्रम् — तस्य वाचकः प्रणवः। (१/२७) इति। अत्रापि संकेतनिरपेक्षमेव वाचकत्वमाचार्यस्याऽभिप्रेतम्। ननु संकेतनिरपेक्षश्च वाचकश्चेत्युभयं विरुद्धम्, इति चेत् न कोऽपि दोषोऽयम्। यतः पार-मेश्वरमायाशक्तिमाहात्म्येनाऽत्र दोषाणामप्यलङ्कारत्वं प्रतिपादितं प्राक्। तत्त्वमसीत्यादिवेदान्तवाक्यानां हि प्रसिद्धमेव भागत्यागलक्षणया परब्रह्म-लक्षकत्वम्। तदेवंप्रकारैरन्यैश्चाऽखिलैरागमवाक्यैः मोक्षशास्त्रवाक्यैश्च

परमेश्वरो लक्ष्यते । परं न प्रमेयभूतलक्ष्यार्थतया संकेतितार्थसम्बन्धित्वेन लक्ष्यते, अपितु प्रतिपादितया महार्थतयैव । यच्च प्रणवादिभिस्तस्याभिधानं तदपि महार्थतयैव । ततोऽभिधेयतां लक्ष्यरूपतां च भजमानोऽपि स्वाभाविकादपरिमितान्महार्थत्वान्न च्यवतेऽसौ मनागपि । एवं व्यङ्ग्यत्वेऽपि बोद्धव्यम् । व्यञ्जकत्वं च भावनाकरणादीनामुपायानां शिवं प्रति । व्यञ्जनं चाभिव्यक्ततामापादनम् । परमेश्वरो हि स्वप्रकाशः सदैव स्वेनैव प्रकाशेन प्रकाशमानस्तिष्ठति , न तत्र प्रकाशकत्वेन कस्य चिदप्यपेक्षा, न चापि किमपि तं प्रकाशयितुमलम् । अत एवोक्तं श्रीमदाचार्याऽभिनवगुप्तपादैः श्रीतन्त्रसारे —

उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद् घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः ।
विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः स्वयंप्रकाशं शिवमाविशेत्क्षणात् । इति

तत् सदा प्रकाशमयस्यैव तस्येयं प्रकाशमानता तदीयमायाशक्तिकल्पितेन स्वरूपाऽख्यातिरूपेणाऽज्ञानेनावृतेव न स्फुटं हृदयङ्गमीकर्तुं शक्यते । तत उपायजालस्येयानेवोपयोगो यत्प्रकाशमानस्यैव परमेश्वररूपस्यात्मनस्तथा प्रख्यातौ निरोधकत्वेनाऽभिमतस्याऽज्ञानस्य शिथिलीकरणेन क्रमशो विलापनं प्रक्षालनमिव मलस्य । प्रध्वस्ते चोपायजालैरज्ञानरूपे मले शिवः सदैव स्वप्रकाशेन प्रकाशमान एव सन् प्रकाशरूपतया हृदयङ्गमी क्रियते — "स एवाहं परमेश्वरो यः शास्त्रेषु सर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वादिनोपदिष्टः, अहमेव चासौ नान्यः कश्चन" इत्येवमभिमन्यत इति भावः । तत एव परमेश्वर उपायजालैः पूर्ववन्महार्थतयैवाऽभिव्यज्यते । व्यञ्जकत्वं च यथाऽपरिमिततया मतमतङ्गरशास्त्रेषु तथैव परमेश्वरत्वाभिव्यक्तिरप्यसंख्यैरुपायैर्जायत इति तन्त्रेषु प्रतिपादितम् । यथा काव्ये व्यञ्जनाया मुख्यत्वं तथैवाऽत्र महत्यस्मिन् विश्वमये काव्ये महार्थस्य शिवस्याऽभिव्यञ्जकत्वेन तान्त्रिकाद्युपायानामेव प्राधान्यम् । इत्थं त्रिभिरपि वाच्यवाचकभावादिभिर्महार्थरूपतया शिवः प्रस्फुरेदिति हि स्पष्टम् ॥१६॥

[प्र०] शब्दद्वारेण योऽप्यर्थः श्रोतुर्बोधगोचरो भवति स

वाचि निगूढः शिव एव ।

द्विविधः खलु स्थूलो बहिरिन्द्रियगोचरः = शब्दो ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्चेति । तत्र वर्णात्मको वाग्रूपो भाष्–गद्–वदादिधातुबोध्यो मनुजदेवादीनां व्यवहारसाधनं भाषा । इतरस्तु नदी–पत्र–यन्त्रादीनां आघातजन्यः कलकलादिरूपः । वर्णात्मकः सार्थको निरर्थकश्च वस्तुतस्तु एष ध्वन्यात्मकोऽपि न निरर्थकः । तिरश्चामेष ध्वन्यात्मकोऽपि तेषु परस्परं भावविशेषं बोधयत्येव । न स्यादेष वर्णात्मक इव सुस्पष्टतरः, तथापि तत्राऽन्तरं तु भवत्येव । तेनैव चार्थतारतम्यं भवति । सुखितायाः क्लिष्टायाश्च गो रम्भणे यदन्तरं तत्स्पष्टमेव । वर्णात्मकशब्दप्रयोगेऽपि काक्वादीनां स्वराणां अर्थप्रतीतौ यदस्ति महत्त्वं तत्खलु विदुषामस्ति विदितम् ! इमे हि काक्वादयो ध्वनिमात्रा एव । वेदे तु उदात्तानुदात्तस्वरितानां स्वराणां ध्वनिरूपाणामर्थावबोधे लोकोत्तरं माहात्म्यमप्यत्र अव्यभिचारि प्रमाणम् । अपि च ताराख्ये व्योमसन्देशे ध्वन्यात्मकः शब्दो वर्णसंकेतं वहन् वर्णात्मक इव कार्यं अर्थं च वहति । अन्यच्च स्वराणामारोहावरोहस्वरूपिणी ध्वनितारतम्यमात्रप्राणा सङ्गीतविद्या अशेषरससञ्चारिणी कमर्थं न साक्षात्कुरुते श्रोतुः ? न केवलं बुद्धिस्थं कुरुतेऽर्थम् , अपि तु हृदन्तर्निवेशयति । एतेन ध्वन्यात्मकेऽपि शब्दे शिवरूपस्यार्थस्य सत्ता पूर्णतया सुनिश्चिता ।

अत्राचार्यो वर्णात्मकं शब्दमाश्रित्य स्वाभिप्रेतं स्फोटयति । एष हि शब्दः स्वमर्थं बोधयितुं त्रेधा प्रवर्त्तते । सोऽयं प्रवृत्तित्रयेण वाचको लक्षको व्यञ्जकश्चेति संज्ञात्रयीं जुषते । एतेन ज्ञाप्यमानोऽर्थोऽपि वाच्यो लक्ष्यो व्यङ्ग्यश्चेति तेनैव क्रमेण व्यवह्रियते । एतेन शब्देऽर्थबोधिका शक्तिः स्वत एव सिद्ध्यति । सापि अर्थत्रितयबोधनपरा त्रिरूपा भवति । अभिधा, लक्षणा व्यञ्जना

चेति तस्या नामानि। इत्थमिदं बोध्यम् —

	शब्दः।	अर्थः।	शक्तिः।
(१)	वाचकः।	वाच्यः।	अभिधा।
(२)	लक्षकः।	लक्ष्यः।	लक्षणा।
(३)	व्यञ्जकः।	व्यङ्ग्यः।	व्यञ्जना।

अभिधा — कोष – व्याकरणाप्तवाक्यादिना या संकेतितमर्थं बोधयति सा शक्तिः अभिधा नाम। उच्चरितशब्दस्य अर्थस्फोटने प्रथममियमेव प्रवर्त्तते, अत इयमग्रिमा अभिधानरूपार्थबोधनाद् अभिधा। यथाऽऽह दर्पणकारः—

तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाऽभिधा। (२/४)इति।

नदीपदेन जलप्रवाहरूपस्यार्थस्य संकेतोऽनयैव क्रियते। लक्षणा — "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाऽव" इति स्वसंकेतितार्थबोधनविरताऽभिधा यदा वक्तुर्विवक्षितार्थबोधने न प्रभवति तदाऽपरा शक्तिर्लक्षणानाम्नी समुपतिष्ठते। तथा हि साहित्यदर्पणे —

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयजोनाद्वाऽसौ लक्षणाशक्तिरर्पिता। (२/५) इति।

'नद्यां घोष' इत्यादौ नद्यादिपदानां मुख्येऽर्थे जलप्रवाहादिरूपे घोषादिस्थितेरसम्भवात्तस्य मुख्यार्थस्य जलप्रवाहादिरूपस्य बोधः। तद्युक्तेषु तीरादिषु सम्भवात् तेषां तीरादीनां वक्तुर्विवक्षितानामवबोधः अनया लक्षणया कार्यते।

व्यञ्जना — उभे अपीमे यमर्थं बोधयितुं न प्रभवतः स वक्तुरभिप्रेतोऽर्थो व्यञ्जनया बोध्यते।

'नद्यां घोष' इत्यादौ वक्तुरभिप्रेतः शीतत्वपावनत्वाद्यति-

शय्यप्रभृतिकोऽर्थ उभाभ्यामपि शक्तिभ्यां न बोध्यते ; तदर्थं व्यञ्जना प्रवर्त्तते।

अत्र शब्दशक्तिसम्बन्धो दिङ्मात्रमुदाहृतः। साहित्यशास्त्रेषु विस्तरेणोपलभ्यते।

एतेन व्याख्यानेन शब्दार्थयोः पारस्परिकः सम्बन्धः सुस्पष्टोऽसन्दिग्धश्च। एष सम्बन्धस्त्रैविध्यं भजते। भवति चायमुत्तरोत्तरं सन्निकटतरः सन्निकटतमश्च। उत्तरोत्तरसान्निध्यातिरेकद्योतनार्थं "सम्बन्धात्, योगतः भावाद्" इति सम्बन्धो योगो भावश्च व्यपदिश्यते। वाच्यवाचकयोः प्रथमः साधारणः; सम्बन्धः लक्ष्यलक्षकयोर्योगः, न केवलं सम्बन्धः अपि तु योगोऽपि। सम्बन्धमात्रं तु दूरस्थस्याऽपि सम्भवति। अत्र एनयोः सान्निध्यमप्युपजायते। व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोर्न योगमात्रम्; योगो हि स्थूलः परस्परभेदद्वित्व एव च भवति। व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः परस्परं भावः सम्बन्धः। अत स्तयोस्तादात्म्यमुपजायते।

व्यष्टिरूपोऽयमर्थः प्रस्फुरति यत्र कुत्र। स एवायं हृदयमनुप्रविश्याऽनुक्षणं यत्र तत्र प्रकाशमानः (श्रोत्रेन्द्रियविषयी भवन्) समष्टिरूपो महार्थः, स च शिव एव। तत्प्रकाशेनैव सर्वव्यवहारसिद्ध्या लोकस्य शङ्करत्वात् स शिवः।

अपि च एषा सम्बन्धत्रयी तस्या आत्मशक्तेः सच्चिदानन्दस्वरूपाणि, संकेतयति। तत्र वाच्यवाचकसम्बन्धः सत्स्वरूपः, लक्ष्यलक्षकयोगश्चित्स्वरूपः, व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावश्च पुनः आनन्दस्वरूपः। आनन्दैकलक्ष्ये काव्ये व्यङ्ग्योत्कर्षेण तदुत्तमता अत एव।

समस्तं वाङ्मयं यथा स्थूलरूपेण बिन्दुमयं शिवरूपम्; तथैव अन्तःशक्त्या महार्थरूपं शिवमयम्। एषा खलु तात्त्विकी दृष्टिः।

अत्र पुनः प्रस्फुरेत् इति लिङः प्रयोगे प्रस्फुरणस्य सम्भावनामात्रत्वं संकेत्यते । प्रस्फुरतीति सम्भाव्यते, वस्तुस्थितिस्तु न तथा । अलमनेन रहस्योद्घाटनेन ॥१६॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
षोडशी कारिका ।

—०***०—

[वि०] सप्तदशेन वाच्यत्वादिना प्रकाशमानत्वेऽपि वस्तुतस्तस्याऽविकल्पा प्रकाशरूपता न त्रुट्यतीति प्रतिपाद्यते —

[प्र०] कारिकापञ्चकेन शिवाख्यं शक्तितत्त्वं वाङ्मयात्मना व्याख्याय स्वोक्तिमुपसंहरति —

वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यभावविमर्शपरवान् भवन् ।
सच्चिदानन्दस्वरूपः शिव एव प्रकाशते ॥१७॥

[वि] ननु यद्यपि रसादिरूपस्य व्यङ्ग्यस्य प्रमेयत्वं कथमपि परिहृतं काव्यप्रकाशादौ परं वस्त्वलङ्काररूपस्य व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य लक्ष्यस्य च सर्वस्यापि प्रमेयत्वमभिमतमेव काव्यशास्त्रविदाम् । ततः परमेश्वरो वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यतया विमृश्यमानः सन् कथं न प्रमेयतां स्पृशेदिति, न शङ्कनीयम्, यतः परमेश्वरः स्वमायाशक्त्युल्लासवशेन वाच्यभावं, लक्ष्यभावं, व्यङ्ग्यभावं च प्राप्तः सन् वाच्यादिभावैः प्रकारभूतैर्यो विमर्शः तस्य परवान् = अधीनः स्वेच्छया भवन्नपि वस्तुतः स्वकीयात् सद्रूपात् शशविषाणादिभिन्नाद् विद्यमानत्वरूपात् चिद्रूपाद् घटादिजडपदार्थविलक्षणात् चैतन्याद् आनन्दरूपाच्च शून्यमहाशून्यविलक्षणात् स्वात्मचमत्करणमयादप्रच्यवमान एव एतद्रूपत्रयसंघट्टरूपः परमशिव एव प्रकाशविमर्शरूपः प्रमेयतास्पर्शाऽसहिष्णुः सन् प्रकाशते । एवं वाच्यादि-

त्वेनावभासमानोऽपि हि प्रकाशरूपान्मनागपि न च्यवत इति तात्पर्यम्। एकस्यैव हि प्रकाशविमर्शसमरसाकारस्य संवित्तत्त्वस्य सद्रूपतया चिद्रूपतयाऽऽनन्दरूपतया च साक्षात्क्रियमाणस्य सच्चिदानन्देति शब्दत्रयोल्लेखनोपायेनोपदेशः। ततोऽसौ केवलः शिव एव सदा प्रकाशते। वाच्यत्वादिकं सर्वं तस्य स्वरसे माद्यतः कवेः कल्पनामात्रम्। न कल्पितेन वाच्यत्वादिना तस्य विकल्परूपता प्रमेयता वा शङ्कनीया। उक्तं चैवमेव आचार्यपादैरात्मविलासे —

पितामहः शिशुं पौत्रं रञ्जयन् लोहलो भवन्।
स्वानन्दं विन्दते कश्चित्तद्वदात्माऽपि निर्मलः ॥(५/१६) इति।

ततः सर्वमनवद्यम् ॥१७॥

[प्र०] इह यदपीदं वाङ्मयं प्रकाशते तत्सर्वं शिव एव प्रकाशते। स शिवश्च सच्चिदानन्दस्वरूपः। अयं शिव एव क्वचिद् वाच्यार्थरूपः क्वचिद् लक्ष्यार्थरूपः अपरत्र च व्यङ्ग्यार्थरूपः। अयमेव पूर्वं विमर्शरूपेण वक्तुर्हृदि जागर्त्ति। एकमेव तत्त्वं नानारूपधरं परवशमिव अन्तश्छन्नं विराजते। तथाहि —

शान्तैर्घोरैर्घोरतमैः स्वं रूपैर्नामभिश्च या।
निगृह्णात्यनुगृह्णाति पिबन्ती स्वरसासवम् ॥ (श्री० ४)

इतिचतुर्थ्यां कारिकायां प्रतिपादितपूर्वमाचार्यस्य। आचार्यस्य शक्तिमहानुभवस्तवेऽप्येष एव भावः प्रस्फुटितो भवति। तद्यथा —

अस्मीतिमात्रभरिताऽखिलविश्वभावा
बोधाऽभिनन्दनसमुच्छलितात्मरूपा।
शान्तापि घोरतरघोरतमस्वरूपै-
राभाति सङ्कलितपञ्चविधप्रपञ्चा ॥(३)इति।

एष शिवो यद्यपि स्वतन्त्र एव वस्तुतः; तथापि स्वेच्छया

स्वकलया परवान् भवति। अर्थो वस्तुतः स्वतन्त्रः शब्दस्तु साधनभूतस्तमनु प्रवर्त्तते। वक्ता स्वमानसभावप्रकाशनाय समुपयुक्तशब्दावचयं कृत्वा तत्प्रयोगं करोति। किं तु शब्दप्रयोगसमकालमेव सोऽर्थः परवानिव शब्दजातमनुगच्छति, स्वयं स्वावबोधाऽसमर्थश्चानुभूयते। शब्दप्रयोगो यथैनं प्रकाशयति तथा प्रकाशते। अत एव तु अस्य एकस्यापि विविधा प्रतीतिः। सा हि सौवर्णाद्याभूषणनिचयस्य निर्मितिविभेदजन्या वैविध्यप्रतीतिरिव शब्दप्रयोगविभेदजन्या। अत एष एक एव महार्थः शिवो वाच्यादिभावं दधानः परवान् भवति।

अत्रेदं न विस्मर्त्तव्यं यत् — यद्यप्यर्थप्रकाशने शब्दस्य साधनरूपता, तथापि शब्दो न साधनम्। इयं तस्य साधनरूपता आपेक्षिकी न तु स्वरूपतः; अतः केवलं तादृशी प्रतीतिरेव। सा च अवस्थाविशेषकृतैव। पूर्वं शब्दस्य शिवत्वनिर्देशः कृत आचार्येण। नादब्रह्म मूलतः स्वप्रकाशं यतोऽनाहतम्। तदपि स्वलीलयैव विविधान् स्वान् शब्दाकारान् प्रकाशयति। उभावपीमौ अन्योन्यान्तर्विराजितौ सम्भाव्यमानद्वित्वौ एकमेव तत्त्वम्, स च शिव एव।

एतेन वाङ्मयनिदर्शनेन सर्वस्य जगत्प्रपञ्चस्य वस्तुस्थितिः सुप्रकाशिता भवति।

"एकमेव तत्त्वं दृष्टिभेदवशाद् द्रष्टुः स्वकलाविकासवशाच्च स्वस्य नानारूपतां बिभर्ति। शिवाऽतिरिक्तं नास्त्येवेह किंचन" इत्येव सारार्थः। भवतु ॥१७॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
सप्तदशी कारिका।

—०***०—

[वि०] सँल्लक्ष्यक्रमत्वादिना यः काव्ये विशेषः तं पारमेश्वरे कविकर्मण्यतिदिशन्तो विश्वविलासनक्रीडां, तस्य परमेशस्य परामृशन्ति श्रीमन्त आचार्यपादाः —

[प्र०] तस्यैव सच्चिदानन्दस्वरूपस्य शिवस्य क्रमणवैदिध्यं निर्दिशत्याचार्यः । एतदेव तस्य क्रमणं आत्मलीलाख्यं रमणम् —

स्फुरन्क्रमेणाऽक्रमेण विक्रमेण च सन्ततम् ।
स्वस्मिन्नेवोरुक्रमोऽयं क्रमते रमतेऽपि च ।१८।

[वि०] ध्वनिरूपं काव्यमुत्तमं गुणीभूतव्यङ्ग्यं च मध्यमं चित्रकाव्यं पुनरवरं मतम् । एतेषां त्रयाणामप्यवान्तरभेदाः सलक्षणोदाहरणं काव्यप्रकाश–साहित्यदर्पणादौ प्रतिपादिताः । तत्र विवक्षितवाच्यस्य ध्वनेः सँल्लक्ष्यक्रमत्वेनाऽसँल्लक्ष्यक्रमत्वेन च व्यूहद्वयं प्रतिपादितम् । रसादिरूपस्य काव्यार्थस्य हि विभावानुभावव्यभिचारिभावसंयोगवशादेव निष्पत्तिः । ततः प्रथमं विभावादिज्ञानं, ततो रसाभिव्यक्तिरित्येवं हि तत्राऽस्ति क्रमः । परमतिशीघ्रतयान्तःकरणव्यापनशीलत्वाद्रसभावादीनामसौ क्रमो न स्फुटं लक्ष्यते । तत एवाऽसँल्लक्ष्यक्रमोऽसावक्रमो वा ध्वनिः कथ्यते । वस्त्वलङ्काररूपस्तु ध्वनिः सक्रम एव स्फुटं ज्ञायमानः सँल्लक्ष्यक्रम इति वा सक्रमः इति वाभिधीयते । ततो यथा स्वशक्त्युल्लासरूपे ध्वनिकाव्ये कविः स्वस्मादभिन्नया स्वकीयकवित्वशक्त्या स्फुरति तथैव परमेश्वरोऽपि विश्वात्मके काव्ये क्रमरूपतादरणपूर्वकं वा तदनादरपूर्वकं वाऽक्रममेव स्फुरन्नास्ते । षट्त्रिंशत्तत्त्वसोपानक्रमेणाऽवरोहक्रीडां तदारोहक्रीडां च सततं कुर्वाणः क्रमरूपतां स्वीकुरुते । एवं क्रमेण कुर्वाणोऽपि सन्ततं परिपूर्णशिवात्मकताया न च्यवते मनागपि । ततः सततं शिवरूपतया प्रकाशमानः परिपूर्णाऽहंरूपत्वेन स्वान्तर्विद्यमानं विश्वं भावजातं परिपूर्णयैवाऽहन्तया विमृशन् क्रमरूपताऽनादरपूर्वकमेव स्फुरति । तदित्थं सततमेव विश्वरूपत्वेन क्रमेण स्फुरन्नास्ते सममेव च सततं शिवरूपतयाऽक्रमेणाऽ-

पि स्फुरन्नस्ति । आरुरुक्षुरपि कदाचिदुपायसोपानाश्रयेण क्रमेणारोहति कदाचिदक्रमेण । यथोक्तं श्रीमदभिनवगुप्तपादैः तन्त्रालोके —

लङ्घनेन परो योगी मन्दबुद्धिः क्रमेण तु ।(५/१५८)इति ।

व्यङ्ग्यस्य वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वेन वाच्यापेक्षया सुन्दरत्वेन वा यत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये काव्ये व्यङ्ग्यं वाच्य एव विश्राम्यति तत्र कविर्विरुद्धं क्रममादरयन् व्युत्क्रमेणैव कवयति परमेश्वरोऽपि हि विश्वस्मिन् काव्ये व्युत्क्रमेणापि स्फुरमाणः साक्षात्क्रियते । तथाहि मातृकाश्रयेण समाविशतो योगिजनस्य सक्रमं स्फुरति क्षुब्धरूपाया मालिन्या आश्रयेण च समाविशतो व्युत्क्रमेण स्फुरतीति सिद्धजनानां मतम् । श्लोके व्युत्क्रम एव विक्रमेणेति गदितः । इत्थं कविरयं परमेश्वरः क्रमेण, अक्रमेण विक्रमेण चाऽविच्छेदेन स्फुरन् स्वस्मिन्नेव क्रमते रमतेऽपि च । क्रमणं ह्यस्य क्रियाशक्त्याश्रयेण बहिर्मुखतया विश्वप्रकाशनम् । रमणं चास्यान्तर्मुखतया ज्ञानशक्त्याश्रयेण प्रकाशनम् । तथाचोक्तं श्रीमदाचार्योत्पलदेवपादैः ईश्वरप्रत्यभिज्ञायाम् —

ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः । (३/१/३)इति ।

ज्ञानक्रियाशक्ती एव हि सदाशिवेश्वरौ । किंच — उरुक्रमश्च प्रसिद्धो भगवान् वामनावताररूपो विष्णुरपि । स हि त्रिविक्रमत्वेन बलिदानवसम्बन्धिन्यौ द्यावापृथिव्यौ तस्य शरीरं च क्रान्तवानिति प्रसिद्धम् । परं तदुपरि परिपूर्णे पदे वर्त्तमानः परमेश्वरः सदैव क्रमते, क्रममाणश्चाऽखिलं विश्वं व्याप्नोति, न केवलं द्यावापृथिव्यावेव । किञ्च नायं परकीयं किमपि व्याप्नोति दानवीयमिव साम्राज्यम् , अपितु स्वात्मानमेव व्याप्नोति स्वात्माभिन्ने विश्वे क्रममाणः । अत एव स्वस्मिन्नेवेति गदितम् । उरुः = महान् , क्रमः = क्रमणसामर्थ्यं, व्यापिनी शक्तिर्यस्य स इति ह्यस्य शिवपक्षेऽर्थः । 'क्रमते' इत्यस्य व्याप्नोतीत्यप्यर्थः । क्रमु पादविक्षेपे । पादविक्षेपश्च गतिः गतिश्च प्राप्तौ विश्राम्यतीति कारणाल्लक्षणया क्रमेर्व्याप्तिरत्रार्थो बोद्धव्यः, सर्वत्र प्राप्तिरेव हि व्याप्तिः । ततः ईशितृत्वेन स्वात्माभिन्नं विश्वं व्याप्नोतीति क्रमत इत्यस्य तात्पर्यम् । रमते इत्यनेन हि

स्फुटमेवैतदुच्यते यदेवं कुर्वाण एव स्वानन्दनिर्भरतां विसृशन्नास्त इति ॥१८॥

[प्र०] अयं उरुक्रमः (विष्णुः) स्वस्मिन्नात्मनि एव क्रमते पादविक्षेपं कुरुते चेष्टते वा। न केवलं क्रमते; परवश इव विवशोऽनिच्छन्नपि क्रमते; अपि तु रमतेऽपि। रमणं हि आत्मतुष्टये स्वेच्छया भवति। अतस्तयेदं क्रमणं तस्य स्वेच्छानिर्भरं रमणमेव। तच्च स्वस्मिन्नेव तस्य सर्वव्यापित्वात् तदतिरिक्तस्य पदार्थान्तरस्य सत्ताया अभावाच्च।

एतत् क्रमणं क्वचित् क्रमेण, क्वचिद् अक्रमेण अपरत्र च विक्रमेण विलक्षणेन क्रमेण शक्त्यतिरेकेण वा भवति। कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं समर्थ एष ईश्वरः सर्वथा उरुक्रमः इति न तस्य विलासे कश्चिदपि निश्चितः क्रमः। तथापीमे भौतिकदृशो वैज्ञानिकाः स्वकीयामूहापोहात्मिकां बुद्धिशक्तिमाश्रित्य विविधानस्य प्रकृतिविलासान् क्रमविशेषेषु निबध्नन्ति सिद्धान्तांश्च निश्चिन्वन्ति। किं तु ते स्वनिर्णयवैकल्यमपवादनियमैरुपगूहन्ति। तेषामिदं सर्वं चेष्टितमपि तस्यैव उरुक्रमस्य मायाशक्त्युपबृंहितस्य विलास एव। वस्तुतस्तु न तत्र कश्चित् क्रमः ; ततश्च को नाम अक्रमः ? सर्वोऽप्येष तस्य विक्रम एव।

एष क्रमाक्रमविक्रमस्तस्य विलासोऽनुक्षणं प्रवर्त्तते। तस्य स्फुरत्ता नैनं विना भवति। अत एवासौ आत्मसत्ताप्रतीतिं विलासमिममाश्रित्यैव कारयति। तथा चोक्तमाचार्येण स्वकीय आत्मविलासे —

मिथो भिन्ना भासमाना भङ्गबुद्बुदवीचयः।
सागरस्य स्वरूपस्य विघाताय भवन्ति किम्। (२/६)
प्रत्युतैषां विरोधेन स्वसत्तैव मुहुर्मुहुः।
चिद्रूपाऽऽनन्दरूपेण विश्वरूपा विलसति। (२/७) इति।

सागरस्य भङ्गबुद्बुदवीचयो वैविध्येन परस्परमत्यन्तं भिन्ना अपि प्रतीयमाना यथा सागरस्य स्वरूपविघातं न कुर्वते ; प्रत्युत तस्य सागरस्य सत्तां विशेषेण अनुभावयन्ति, तथैव एष तस्य शिवस्य वैविध्यप्रकाशक आत्मविलासस्तस्य सत्ताप्रत्यायकः ।

श्रुतौ विष्णुरूपेण वर्णितस्य ब्रह्मण उरुक्रमपदेन परामर्शः । अत्र शिवतत्त्वस्य तेन परामर्श उभयोरभेदं तात्त्विकं सूचयति ।

इदमत्र तत्त्वम् — विचित्रा हि तस्य लीला; न सा कमपि बन्धनं स्वीकुरुते । तामेव तत्त्वदृशा पश्यञ्जनः तत्स्वरूपं विन्दति । अलमनेन ॥१८॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
अष्टादशी कारिका ।

—०***०—

[वि०] पूर्वोक्तं प्रमेयजातं सिंहावलोकनन्यायेन संक्षेपतः परामृश्यत एकोनविंशेन पद्येन —

[प्र०] परः शिवः प्रकाशते । स क्वचिद्बिन्दुरूपेण, अपरत्र वाच्याद्यर्थरूपेण च प्रतीतिगोचरो भवति । स एव पूर्वमात्मशक्तिरूपेण व्याख्यातः शान्तैर्घोरैर्घोरतमैः स्वं रूपैर्नामभिश्च निगृह्णन्ननुगृह्णँश्च प्रदर्शितः । सर्गस्थितिलयेषु तस्यैव लीलाविलासः । सम्प्रति सर्वमपि तत् समासेनाशेषं निर्दिशत्याचार्यः —

स्वरसामममृतां बिन्दुविसर्गाढ्यां परः शिवः ।
लालयँल्ललते नित्यं ललितामात्मनः कलाम् ।१९

[वि०] परः शिवोऽनुत्तरो भगवान् महेश्वरः । आत्मनः कलां =

निर्माणशक्ति जगदवभासनसमर्थामात्मनोऽभिन्नां शक्तिं लालयन्नास्ते । तस्याः कलायाः विशेषणतया कतिचित् पदान्यत्र । तथाहि — स्वरसां = स्वःस्वात्मीय एव रसः = आनन्दो यस्याः, न पारमेश्वर्याः कलायाः = शक्त्या आनन्दरूपता विषयप्रतिबिम्बबलेन विभावादिबलेन वा अन्येन वा केनापि बाह्योपाधिना, अपितु स्वात्मस्वभावभूता तस्या आनन्दरूपता, ततोऽसौ शिवस्य कला स्वरसा । अथवा शिवस्य स्वकीय एवानन्दस्तस्य कला, ततोऽसौ परमेश्वरः स्वकीयामानन्दरूपतामेव स्वरसां कलां लालयतीति । अमृतामिति ह्यमृतवदाह्लादयित्री शिवस्य सा कला, किञ्च यथा शिवः कालकलनोत्तीर्णस्तथैव तदभिन्ना तस्य शक्तिरपीत्यतः अमृतामिति वर्णिता । ललिता ह्यसौ । ललितेतिनाम्नाऽसौ प्रसिद्धा । अन्वर्थं च तस्या अभिधानमिदं, यतोऽतिरमणीयाऽसौ तत ईप्सनीया ।'लल ईप्सायाम्' इति । ईप्सिता चाऽसौ सदैव महेश्वरस्य । यत इयमेव तस्य परमेश्वरत्वप्रयोजिका । तस्या एव माहात्म्येन परमेश्वरे परमेश्वरताव्यवहारः शक्यक्रियः । यतस्तस्य कला, पञ्चकृत्यनैपुण्याख्या कवेरिव कवित्वशक्तिरियमेव भगवती । अथवा ललितेतिसुन्दररूपवतीत्यप्यर्थः । सर्वासां सुन्दरीणां हि सौन्दर्यप्रयोजिका चेतनारूपिणी भगवती शक्तिरेव । तत इयं ललितेति गदिता । किञ्च बिन्दुना विसर्गेण चाऽसावाढ्या । बिन्दुरेव हि बहिर्मुखः सन् विसर्गो भवति । ततो विसर्गप्रतिपाद्यबहिर्मुखताया बीजं बिन्दावेव विद्यमानम् । तत एव ततो विकसनशीलम् । विसर्गश्च पारमेश्वर्याः शक्तेर्निर्माणसामर्थ्यं पञ्चकृत्यप्रपञ्चस्य समरसाकारं बीजम् । ततो बिन्दुना, तदुच्छूनतास्वभावेन विसर्गेण च परमेश्वरस्य शक्तिर्विश्वरूपतां भजन्ती आढ्या निखिलभावजातभरिताकारा भवन्ती संवेद्यते । तत एव 'बिन्दुविसर्गाढ्याम्' इति तस्या विशेषणमुपात्तम् । ईदृशीं ललितामात्मनः शक्तिरूपां कलां परमेश्वरो नित्यं = सततमेव, लालयन् = ईप्सयन् स्वकीयपरविमर्शोन्मुखतां प्रति प्रेरयन् ललते = ईप्समानस्तिष्ठति । यथा खलु कोऽपि स्वकीयां प्रेयसीं लालयन् = रञ्जयन् सदैव तदवधानपरो भवन् ललते = आनन्दनिर्भरो भवति तथा परमेश्वरोऽपि ललितां स्वकलां लालयन्नानन्दं

विन्दति इत्येवमपि ह्यस्य व्याख्यानम् , धातूनामनेकार्थत्वात् ॥१६॥

[प्र०] तस्यैवायमशेषा लीलाविलासस्तदभिन्नकलारूपः परशिवस्य । तस्य तां कलां स्फोटयति । तथाहि —

स्वरसां तादात्म्यरसरूपिणीम् , 'रसो वै सः' इतिश्रुतेस्तस्य परशिवस्य रसात्मकतया इयं रसात्मिका न ततो भिन्ना । तथा चात्मविलासे —

विलासो न स्वतो भिन्नो विलासादपि न स्वयम् ।
तदेतत्सच्चिदानन्दमद्वैतं पारमार्थिकम् ॥ (२/३)

शक्तिशक्तिमतोरभेदः सुसिद्धः ।

अपि च सर्वमपि सुखं दुःखं वा प्राणिमात्रस्य अन्तर्विराजते । तद्धि बाह्यैरुपकरणविशेषैरुद्भाव्यते दीपशलाकादिस्थो वह्निरिव सङ्घर्षणादिना । सोऽभ्यन्तरतो बहिरागच्छति । काव्यरसस्यापि खलु इयमेव प्रक्रिया । तत्रापि हृदयस्थाः स्थायिनो भावा विभावादिभिर्बाह्यैरालम्बनादिभिरुपकरणविशेषैर्विभाव्यमाना अनुभाव्यमाना रसनयोग्यतामानीयमानाश्च रसपदवीं प्राप्यन्ते । यथा न तत्र सुखदुःखयो रसस्य तत्स्थायिभावानां च पृथक् स्थितिः, सङ्कल्पविशेषा एव ते प्राणिनाम् । तथैव इयमपि तस्य कला स्वरसरूपा न ततो भिन्ना । 'अमृतां' = अविनाशिनीम् । अथवा 'अम्' ऋताम्' इतिपदच्छेदः । ततश्च 'अम्=अनुत्तर पदरूपिणीम् । ऋताम्=सत्याम् यत इयं नाऽऽत्मतःवभिन्ना परशिवस्वरूपिण्येव, अत एव सत्या । 'बिन्दुविसर्गाख्याम्'=बिन्दुविसर्गशक्ती संहृतिसृष्टिकार्ययोत्ये पूर्वं व्याख्याते; ताभ्यामाख्यां सम्पन्नाम् । तयोराख्यां स्वामिनीं वा इयं हि परशिवकला अनुत्तरां सर्जनसंहरणपरा सर्वस्यानुभवगम्या भवति । शक्तिर्हि कार्येणानुमीयते । कार्यं हि तत्र लिङ्गं सा च लिङ्गिनी । सागरस्य मिथोभिन्ना-

भङ्गबुद्बुदवीचयः क्रियासमभिहारेण उत्पद्य विलीयमानास्तस्य सत्तां प्रति दर्शकस्य अभिमुखतामापादयन्ति । निर्वीचिके प्रशान्ते पाथोधौ सर्वस्य शून्यमिवाभासमानं न कमपि बुद्धिचमत्कारं विदध्यात् । एषोऽभिप्राय **आचार्येणात्मविलासे** स्पष्टीकृतः ।

एतेन तस्या अनुमितिगम्यताऽपि संकेतिता भवति । अपरोक्षाऽनुभवेऽसमर्थः प्रपञ्चस्याऽस्य सर्गविलयौ पश्यन् शक्तिविशेषमनुमानेन निश्चेतुं प्रभवति । अनन्तरं पुनः पुनरभ्यासेन तस्य निश्चयस्य दृढतायामपरोक्षाऽनुभूतिः ।

'ललितां' = सुकोमलां सुसूक्ष्मां च । अत एव सा मनोहारिणी । सा हि ललिता उत्कृष्टतमा कला । कला हि यथा यथा बाह्यसाधनविमुखा भवति तथा तथोत्कृष्टतां भजते लालित्यं च संश्रयते । इयं विन्दुविसर्गाढ्या शिवकला तु स्वात्ममात्रनिर्भराऽप्रतिमैव ।

सर्गसंहृतिपरा परशिवशक्तिर्यस्मादशेषस्यास्य प्रपञ्चस्य संख्यानहेतुः, तस्मात्सा 'कला' पदवाच्या । अपि वा यतः सा सौन्दर्यप्रसूतिः, अत एव कला । अपिवा — कं ब्रह्माणं सृष्टिसामर्थ्यस्वरूपिणी ब्रह्मशक्तिं लाति इति कला । बिन्दुशक्तिः संहृतिस्वरूपिणी प्रागभाव इव स्वतःसिद्धा; इयं च सृष्टिप्रकाशेन ब्रह्मशक्तिमाविर्भावयन्ती कला स्यात् । अथवा — अशेषमिदं कुर्वाणा करा एव कला स्यात्, लरोरभेदात् ।

परशिवस्येयमात्मनः कला । परशिव एव आत्मा तस्येयं कला । नासौ शिवः प्रकाशक एव पदार्थान्तराणां दीप इव, अपि तु स इव स्वप्रकाशाऽभिव्यञ्जक एव । तद्भिन्नस्य पदार्थस्य वस्तुतोऽभावात्, तत्प्रकाशनस्य प्रसङ्ग एव दूरापेतः ।

परः शिवः (तां) स्वरसाममृतां बिन्दुविसर्गाढ्यां आत्मना ललितां कलां नित्यं लालयन् = स्निह्यन् ललते = वात्सल्यपरवशो

भवति विलसति वा ।

आत्मारामोऽसौ स्वात्मकलायां स्वत एव प्रसीदति । आत्मन्येवात्मना तुष्टोऽसौ विलसति तस्यात्मविलासप्रयोजनमिदं 'जगद्' इति सारांशः । अलमनेन ॥१६॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
एकोनविंशतितमा कारिका ।

—०***०—

[वि०] प्रतिपादितेन प्रमेयजातेन यत् सारतयोपदेष्टव्यमस्ति तद् विंशेन श्लोकेन प्रतिपाद्यते—

[प्र०] अद्वैतं शिवशक्तिस्वरूपं शिवकलारूपं वा आत्मतत्त्वं ब्रह्म बहुशो विवृत्याधुनाऽस्य श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रस्य व्यवहारविधया तन्माहात्म्यं च विवक्षुः आचार्यः प्राह —

विमृश्यैवमशेषेण स्वानन्दरससम्भृतः ।
निःसङ्गो निर्ममः शान्तो मुनिर्यादृच्छिको भवेत् २०

[वि०] यदेतावत् प्रतिपादितं तदशेषेण = परिपूर्णतया, विमृश्य = अवधार्य, स्वकीयः = स्वस्वभावभूतो य आनन्दः = स्वात्मचमत्कारः परिपूर्णाहंविमर्शरूपः स एव रसः = पुनः पुनस्तथाचर्वणास्वरूपः, तेन सम्भृतः = परिपूर्णः । ग्रन्थार्थस्य हि सम्यग् विमर्शनेन प्रकाशरूपः स्वात्माऽभिज्ञायते एव, सकृदभिज्ञातश्च पुनः पुनरभिज्ञारूपेण समावेशाभ्यासेन तथा हृदयङ्गमी कार्यो यथा व्युत्थानेऽपि समावेशोऽसावखण्डित एव सततगत्यावतिष्ठेत, तेन च योगिनः परिपूर्णताभिमानः सततमुन्मग्नतयाऽवस्थातुं सम्भवति । तदित्थं सततोन्मग्नपरिपूर्णताभिमाननिर्भरः स्वानन्दमग्नश्च सन् निरपेक्षतामाहात्म्येन क्लेशैर्न क्लिश्यते, ततोऽसावासक्ति-

रूपेण रागेण रहितो भवति पारिपूर्ण्यमाहात्म्येन च परिमितभावान्मुक्तः सन् परिमितभावोद्भूताया ममतायाश्चापि मुक्तो भवति, रागद्वेषादिदोषैर्मुक्तः सन् विषयप्राप्त्या तदप्राप्त्या वा हिताऽहिताभ्यां वा लाभाऽलाभाभ्यां वा न मनागपि प्रभावितो भवतीति शान्ततां भजते । तत एव जनः एतच्छास्त्रविमर्शनेन स्वानन्दरसपूर्णः सन् निःसङ्गः = सङ्गरहितः, निर्ममः = परिमितममतारहितः, शान्तः = क्लेशकर्मविपाकैश्च रहितो मुनिः = मुनित्वमासादयन् मुनिरिति मौनशीलो मननशीलश्च । ईदृशो हि विवेकवान् निष्प्रयोजनं न किमपि जल्पति, स्वात्माभेदविमर्शनरूपं मननं च सर्वत्र विषयजाते कुर्वन्नास्ते, ततोऽसौ मुनिरिति गदितः । स च मुनिः किं कुर्यादित्यपेक्षायामुच्यते — असौ यादृच्छिको भवेदिति । विषयत्यागग्रहणाभ्यामुपरतो भवेदिति भावः । तथा चोक्तं आचार्यश्रीमदभिनवगुप्तपादैरनुत्तराष्टिकायाम् —

संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्त्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया ।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो
मा किञ्चित्त्यज मा गृहाण विरम स्वस्थो यथावस्थितः ।इति

तथा च श्रीमद्भगवद्गीतासु —

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।(२/७२) इति ।

ततस्त्यागपरिग्रहवर्जनपुरःसरं निस्तरङ्गसमुद्रकल्पा काऽपि यादृच्छिकभावापत्तिरेव पर उपदेश इति तात्पर्यम् ॥२०॥

[प्र०] एवं = उक्तप्रकारेण । अशेषेण = अविकलम् । विमृश्य =

ध्यात्वा (जनः) । याद‍ृच्छिको = यथालाभसन्तुष्टः । मुनिः = मननशीलः भवति । अथवा मुनिर्मननशीलोऽसौ । याद‍ृच्छिकोऽशेषसङ्कल्पविकल्पशून्यो भवति ।

वस्तुतस्तु स सदैव याद‍ृच्छिको मुनिः, यो नाम एवं विमृशति यो नाम वा नो विमृशति । यतः सर्वत्रापि सर्गे आत्मतत्त्वमिदं समानमेकरसमपरिवर्त्ति च । तेन तत्र याद‍ृच्छिकता 'भवेद्' इति 'भवति' इति सम्भाविता स्यात् । अपि वा व्यवहारद‍ृशा तत्र नोपलभ्यमाना सा समत्वयोगावस्थाऽनेनाभ्यासेन सुनिपुणमनुभूयते ।

एतावता शास्त्रस्याऽस्य प्रयोगो ज्ञानविषय एव प्रतिपाद्यते । अन्तर्द‍ृष्टिशोधनमेवास्य लक्ष्यम् । द‍ृष्टेः शुद्धौ निःशेषमप्यस्य व्यवहारजातं निसर्गतः शुद्धं भवति । 'अवद्यमनवद्यं वा कर्म किं साधयेदसत्' इति कर्मणो मूलोच्छेदः स्पष्टमवलोक्यते । अयमेव सहजसमाधिः ।

याद‍ृच्छिकस्य मुनेर्भवन्तीमानि लक्षणानि —

स्वानन्दरससम्भृतः — स्वानन्दो नाम आत्मानन्दः = आत्मलयः । स एव रसः आस्वाद्यत्वात् तेन सम्भृतः परिपूर्णः सर्वथाऽनवकाशः । स हि सर्वकालं आत्मानन्दनिमग्नोऽन्तर्मुखस्तिष्ठति । बहिर्मुखता तस्य विनश्यति । बहिर्मुखतैव सर्वक्लेशहेतुः आत्मस्वरूपदर्शनबाधिका । तथाचोक्तं कठोपनिषत्सु—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः
तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् । (२/१/१) इति ।

अतो विनिवृत्तबहिर्मुखताको मुनिरात्मस्वरूपदर्शनलब्धानन्दसन्दोहो निर्बाधमात्मलीनो भवति । स एवं निर्द्वन्द्वः सन्

यदृच्छानिर्भरो यादृच्छिक उच्यते ।

'निसङ्गः'=सङ्गो हि विषयेषु मनःप्रवणता । निर्मुक्तः सङ्गादिति निःसङ्गः । स हि न विषयेषु रमते न वा तान् द्वेष्टि । विषयेषु रममाणस्य तु तत्र आसक्तिः सुस्पष्टैव; किन्तु तान् द्विषतोऽपि तत्रासक्तिः प्रकारान्तरेण उपलभ्यत एव । यस्य यं विषयं प्रति रागः, यस्य यं विषयं प्रति वा द्वेषः, उभयोरपि तद्विषयचिन्तनं समुपलभ्यते । एकस्य रागात्मिकया वृत्त्याऽपरस्य तु द्वेषात्मिकया । तथा च सति विषयबन्ध उभयोरपि । निःसङ्गस्तु "नाऽभिकाङ्क्षति न द्वेष्टि" । तदुक्तं गीतासु —

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति (२/६४)

'निर्ममः'=ममेतिसम्बन्धानुभूतिविहीनः । यस्य नाम 'इदं मम' इति बुद्धिस्तस्य 'इदं तद्वा परस्य' इत्यपि बुद्धिः सुनिश्चिता । ततश्च ममत्वपरकीयत्वपरिच्छेदपटुः स रागद्वेषौ विन्दते । द्वन्द्वसमाक्रान्तदृष्टिश्च दर्शनमालिन्यमालिङ्गति । ततश्च दृष्टिभ्रमात् चेखिद्यते ।

ममतैव हि सर्वक्लेशमूलम् । यत्र नाम 'ममायम्' इतिबुद्धिस्तत्र मनः सदा तदपायशङ्काकुलं तिष्ठति । माता स्वसुतस्य हितकामा पदे पदे तदनिष्टमाशङ्कमाना व्याकुलितहृदया न क्षणमपि शान्तिं विन्दति ।

अपि च — 'मम' इति बुद्धिर्हि द्वैतबुद्धिः । षष्ठीविभक्तिप्रयोगोऽयं सम्बन्धद्योतकः । सम्बन्धश्च सम्यग्बन्धो द्वयोरेव । द्वैते च स्वीकृते द्वन्द्वसृष्टिः स्वीकृता भवति । ततश्च तन्मूलं सर्वमप्यनिष्टमुपतिष्ठते । अतो 'मम' इतिबुद्धिपरिहार एव साधीयान् । यादृच्छिको मुनिर्ममतां न क्षणमपि पश्यति । स हि अहंस्वरूपः सदा विचरति । 'मम' इति 'अहम्' इत्यस्यैव विकृतिः । स तु निर्वि-

कार:; अतो निर्ममः ।

'शान्तः'=अधिगतशमः । अविचलरूप सदैकरस एव भवति शान्तः । निःसङ्गो निर्ममश्च पुरुषः शान्तो भवति । निःसङ्गताया निर्ममतायाश्च शम एव पर्यवसानम् । निःसङ्गस्य निर्ममस्य च सर्वे कामा विनिवर्तन्ते । ते तस्यान्तःकरणमविचालयन्तो विलीयन्ते । तेन तस्य न शमभङ्गः । अतोऽसौ शान्तिमाप्नोति । अत एव श्रीमद्भगवद्गीतास्वपि —

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥(२/७२)

इत्येवं शान्तिलाभाय कः कल्पते इत्युपवर्णितोऽधिकारीत्यलमेतावता ॥२०॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
विंशतितमा कारिका ।

—०****०—

[वि०] एकविंशेन श्लोकेनाधिकारिनिरूपणं ग्रन्थस्य सामान्यतः प्रयोजनं चोच्यते —

[प्र०] कारिकाविंशतिकया मूलतत्त्वं तदनुशीलनविधाश्च व्याख्याय सम्प्रति शास्त्रस्याऽस्य गुणगरिमाणमधिकारिनिर्देशपुरःसरं विशदयति —

वैराग्यवन्मनुजसेव्यमिदं सदैव
हृद्यप्रबोधचतुरं सुमनःशरण्यम् ।

**नाऽतः परं किमपि शास्त्रमशेषशोक
पाथोधिशोषकरणेन शिवाऽनलः स्यात् २१**

[वि०] वैराग्यवन्तो ये मनुजाः = मानवास्तैरिदं शास्त्रं सदैव सेव्यम्। ये त्वर्थकामलोलुपाः स्युस्तेषामत्र नाधिकारः। तेनैहिकामुष्मिकभोगविरक्ता एवात्राऽधिकारिणः। अतो नात्र वर्णाश्रमवयोलिङ्गादिकं किमप्यधिकारित्वप्रयोजकमित्यपि मन्तव्यम्। हृद्यो = हृदयप्रियो यः प्रबोधः = उपदेशद्वारा प्रबोधनात्मा, तत्र चतुरं = पटु शास्त्रमिदम्। सुखोपायमेव तत एव हृद्यत्वेन न कठोरतया प्रबोधकारि विनेयानां कृते शास्त्रमिदम्। ततो ये भक्तिरसकोमलीकृतहृदया वैराग्यवन्तोऽधिकारिणस्तर्ककर्कशोक्तिप्रधानेषु शास्त्रेषु प्रवर्तितुमक्षमास्तेषां कृते हृद्येन प्रकारेण प्रबोधकरणे समर्थमेतच्छास्त्रम्। किञ्च सुमनसामपि = देवानामपि कृते शरण्यमिदम्। देवा अप्यस्य शास्त्रस्य शरणार्थिनः सम्भवन्ति। अशेषाणां = निखिलानां तापत्रयादिरूपाणां शोकानां यः पाथोधिः = समुद्रः संसरणरूपः संसाराख्यस्तस्य शोषकरणेन = शोषणेन हेतुना। अतो = अस्मात् शास्त्रात्। परं = उत्कृष्टतरं किमपि शास्त्रान्तरम्। शिवानलः = शिवरूपोऽग्निः, न स्यात् = न भवतीति सम्भाव्यते। इदं शास्त्रमेव जननमरणादिसङ्कटबहुलस्य संसरणसमुद्रस्य शोषणे समर्थत्वात् परमः शिवाग्निः। यतः परब्रह्मभावविमर्शमाश्रित्य निर्मितमिदं पारमेश्वरं शास्त्रम्। अत एव ऋषिप्रणीतं देवादिप्रणीतं वार्षं दैवतं वा शास्त्रं किमपि नैतत्समम्। का पुनः कथा मानुषशास्त्राणाम् ॥२१॥

[प्र०] 'कोऽत्राधिकारी' इति जिज्ञासां शमयन्नाचार्य आह "वैराग्यवन्मनुजसेव्यमिदं सदैव" इदं शास्त्रं हि वैराग्यवता विषयरसविमुखेन मनुजेन मनोजातेन (तदादर्शमनुसरता एव) सेव्यं सेवनार्हम्। विषयासक्तो हि नाऽस्मिन् शास्त्रे प्रवृत्तिं लभते। यथा मोक्षार्थं वैराग्यमपेक्षितं मनुष्याणां तथैव वैराग्यपूर्वकमिदं

शास्त्रमपि तेषां परमकल्याणकरम् । यथा वैराग्यं सार्वभौमिकं तथैवेदं शास्त्रमपि तेषां कृते सार्वभौमिकम् ।

यद्यपि विषयवासनाविनाशायैव एतच्छास्त्रचिन्ता, तथापि यत्किञ्चिन्मात्रं विषयवैरस्यं बीजरूपेण अत्र प्रवृत्तेः प्रागपेक्ष्यत एव । दधिकामो यथा उपस्थिते पयसि प्रक्षेप्तुं स्वल्पमात्रं दधि यदि नाधिगच्छति नाऽसौ स्वदुग्धं दधिरूपे परिणमयितुं प्रभवति । अत्रापि विषयरसवैमुख्यलाभरसं अधिजिगमिषुणा वैराग्यसंस्कारः प्रथमत एव हृदि धार्यः ।

लोके पश्यामः — सर्वोऽपि जनः स्वां स्वां रुचिमनुसरन् तत्पोषाय पृथक् पृथक् पदार्थेषु प्रवर्तते । अस्याऽभिरुचिरेव सर्वत्र प्रवृत्तिहेतुः । अतोऽत्र निवृत्तिमूले शास्त्रेऽपि निवृत्तिकामस्यैव मनुजस्य प्रवृत्तिर्भवेन्नान्यस्य ।

अपि च स्वरुचिसामञ्जस्येन प्रवर्त्तमानोऽनायासेन सपदि प्रगतिं लभते । यस्तु रुचिमनादृत्य हठात्प्रवर्त्तते नासौ साफल्यं विन्दति महतापि कष्टेन । अतोऽसौ दूयते । श्रीमदाचार्यस्योपदेशोऽयमतः प्रवर्त्तते यथा वैराग्यवानेव मनुजः शास्त्रमिदं सेवेत; नान्यः ।

अस्य शास्त्रस्य ज्ञानकृती शक्ती बोधयति । तथाहि —

'हृद्यप्रबोधचतुरम्' = हृद्यो मनोहारी यः प्रबोधस्तस्मिन् चतुरं दक्षमिदं हि शास्त्रम् ।

त्रिविधेषु परोक्षप्रत्यक्षापरोक्षेषु बोधेषु तृतीयोऽपरोक्षो हृद्यः । स एव सर्वथाऽभ्यर्हितः । अतः स न केवलं बोधः; अपि तु प्रबोधः ।

अपि 'वा सदैवहृद्यप्रबोधचतुरम' इत्येकं समस्तं पदम् । तेन "सदैवानां = भाग्यवतां यो हृद्यः = प्रियः प्रबोधस्तस्मिन् चतुरम्" इति स्फुटोऽर्थः ।

(अत एव) 'सुमनःशरण्यम्'=सुमनसां शोभनमानसानां देवानां दैवीं सम्पदमधिगतवतां वा शरण्यं शरणार्हम्। उद्रिक्तसत्त्वगुणानामेवेदं शास्त्रं शरणम्। ज्ञानामृतवितरणेन तेषां तृषां शमयित्वा परां शान्तिं प्रयच्छति।

अपि वा सुमनसां=पुष्पाणां शरण्यं=आश्रयभूतम्। अत्र स्थितं प्रत्येकं पदं सुमन इव हृद्यगन्धज्ञानवितरणशीलं विराजते।

उत्तरार्द्धेन अस्य क्रियाशक्तिं निःशेषेण स्पष्टयति —

अशेषः शोक एव यः पाथोधिः तस्य शोषकरणेन=विनाशनेन विलापनेन वा। शिवानलः अनलो दाहकोऽपि शिवः कल्याणरूपः; 'शिवश्चासावनलः' इति, शिवा चासावनल इति वा।

यथानामेदं शास्त्रं जनस्याशेषपाथोधिकल्पं शोकं विशोष्य शं कुरुते, न तथाऽन्यत्किमपि शास्त्रं कुर्यादित्यलम् ॥२१॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते

श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे

एकविंशतितमा कारिका

—०***०—

[वि०] शास्त्रान्ते आचार्य-महोदयाः स्वकीयं नामोल्लेखनादि कुर्वन्ति। अधिकारिणामत्र विषये विश्वासो भवेदिति प्रयोजनमभिसन्धाय —

[प्र०] अथ शास्त्रस्याऽस्य प्रादुर्भावकालः संकेत्यते —

विक्रमतो जननरमित-

वर्षेऽष्टम्यां सिते कवौ नभसि।

श्रीविंशतिकां निरमा-

च्छ्रीमदमृतवाग्भवाऽऽचार्यः ॥२२॥

[वि०] श्रीरस्यास्तीति श्रीमान् , शोभायुक्तो वैराग्यभक्तिविवेकविद्यादिभिः सद्गुणैः शोभायमानोऽमृतवाग्भवाचार्यः = अमृता सदैवाऽनस्तमिताऽविच्छेदेन परिस्फुरन्ती या वाग् = भगवती विमर्शशक्तिः प्राक्प्रतिपादितस्वरूपा । तद्भवः = तस्या जातः, तां स्वजननीत्वेनाश्रितोऽतस्तयैव सततं क्रियमाणलालनपालनादिकः पुत्रवत्सलाया मातुः स्तनन्धयः शिशुरिव च तस्यामेव समर्पितनिजसर्वस्वस्तामेव सर्वशक्तिमयीं पश्यन् तदाश्रितत्वेन च निःशङ्कतामवाप्य निश्चिन्ततया वर्त्तमानो य आचार्यः = शिष्याणामाचारग्राहयिता, तेषां बुद्धेर्ज्ञाननिचयेश्च आसमन्ताच्चयनकर्ता । श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य इति यथार्थनामा विद्वान्, विक्रमतः = विक्रमादित्याद् सम्राजः 'जननरमित' इति जैमिनीयगणितसूत्रानुसारं सहस्रद्वयोत्तरेऽष्टमे वर्षेऽष्टम्यां तिथौ सिते पक्षे कवौ = शुक्रे, शुक्रवासरे नभसि = श्रावणे मासि श्रीविंशतिकाशास्त्रं = व्याख्यातपूर्वं निरमात् = निर्मितवान् । अत्र ह्यात्मनोऽखिलब्रह्माण्डनायिकायाः शक्तेर्भगवत्याः पुत्रत्वेन निर्देशात् भगवत्यनुग्रहबलेन विदितवेदितव्यत्वं ततः श्रद्धेयत्वं च ध्वनितम् ॥२२॥

[प्र०] वैक्रमे अष्टोत्तरविंशतिशत (२००८) मिते वर्षे श्रावणे मासि शुक्लपक्षे अष्टम्यां भृगुवासरे श्रीमदमृतवाग्भव आचार्यः श्रीविंशतिकाशास्त्रं निर्मितवान् ।

'जननर' इति वर्णाङ्कसंख्या इत्थं बोध्या—ज=८,न=०,न=०,र=२; 'अङ्कानां 'वामतो गतिः' इति वामगत्या २००८ इति अङ्कपिण्डः । संख्यासङ्केतश्चायम् —

क-ट-प-यवर्गभवैरिह पिण्डान्त्यैरक्षरैरङ्काः ।
ने-ञो शून्यं ज्ञेयं तथा स्वरे केवले कथिते ॥

अयमाशयः — कवर्गे चवर्गे च दशवर्णाः सन्ति, कवर्णाद्

आरभ्य भवर्णं यावद् नवसंख्याः, ञकारस्तु दशमः, मूलाङ्कास्तु नवैव भवन्ति । 'एक' सङ्ख्यायाः शून्ययोगेन दशसङ्ख्योत्पत्तिः । अतः ञवर्णः शून्यबोधकः । टवर्गतवर्गयोरपि तथैव स्थितिः । तत्र नकारः शून्यप्रत्यायकः । पवर्गे पुनः पञ्चैव वर्णाः । अन्तःस्थोष्मवर्णा अष्टौ । स्वराश्च केवला व्यञ्जनहीनाः शून्यनिर्देशकाः सर्वे । यथा चेदं तथा सर्वमिदं छलाक्षरसूत्रादौ स्पष्टं तत्रैव जिज्ञासुभिरवलोकनीयं सुधीभिरिति ॥२२॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
द्वाविंशतितमा कारिका ।

—०***०—

[वि०] ग्रन्थनिर्माणे यद् विशिष्टं प्रयोजनमभिसंहितं तदुल्लेखपूर्वकं शास्त्रमुपसंह्रियते चरमेण श्लोकेन —

[प्र०] यद्यपि अद्भुतस्यास्य शास्त्रस्य प्रादुर्भावे दैवी प्रेरणा एव मुख्याऽन्तर्दृशा, तथापि व्यवहारदृशा प्रवृत्तिहेतुं प्रदर्शयन्नाचार्य आह —

अत्रिगोत्रसमुद्भूतमिश्रगोविन्दशर्मणः ।
बोधार्थं निर्मितं शास्त्रमेतज्जानन्तु पण्डिताः२३

समाप्तमिदं
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रम् ।

कृतिरियं तत्रभवतः
सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–महामहिम–आचार्य–
श्रीमदमृतवाग्भवस्य ।

[वि०] अत्रिगोत्रसमुद्भूतः=तद्गोत्र उत्पन्नो मिश्रगोविन्दशर्मा नाम द्विजवरस्तस्य बोधार्थं=तं प्रबोधयितुं तस्य प्रबोधनमेव विशेषतया प्रयोजनत्वेनाभिसन्धाय निर्मितमेतच्छास्त्रं पण्डितास्तथा जानन्तु। अथवा पण्डिता अपि शास्त्रमेतद् बोधन्तु येन न केवलं मिश्रगोविन्दशर्मण एवाऽपितु तेषामपि प्रबोधो भवेदिति ॥२३॥

[प्र०] "अत्रिगोत्रं श्रीमिश्रगोविन्दशर्म्माणं श्रीतत्त्वं बोधयितुं शास्त्रमिदं प्रवृत्तम्' इति विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु।

श्रीपार्थार्थं प्रवृत्तं श्रीगीताशास्त्रं यथाऽशेषस्य जगतः कल्याणकरं सञ्जातम्, तथैवेदं शास्त्रमपि श्रीगोविन्दमिश्रकृते प्रवृत्तमपि सर्वस्यापि जिज्ञासुजनस्य तृप्तिकरं कल्याणकरं चाऽवश्यमेव भविष्यतीति दृढो मे प्रत्ययः। साक्षादाचार्यपादादधीत्य सरहस्यमिदं शास्त्रं कमप्यनिर्वचनीयं मोदमन्वभवम्। क्रियासमभिहारेण च परिशीलयन् महतीं धन्यतां स्वात्मनि विन्दामि' इति श्रीमदाचार्यचरणा अनवरतं वन्द्याः सन्त्येव, परं श्रीमिश्रवर्या अपि उपकृतेन मनसा न विस्मर्तव्याः। येषां व्याजेनाहं अमृतमिदं स्वदितुं प्राभवम्। गोविन्दास्ते गा गां वा विन्दन्तो गोविन्दा एव। अपि च पुरा सर्वे शैला हिमालयं वत्सं परिकल्प्य मेरुं च दोग्धारं निरूप्य गोरूपामिमां धरित्रीं दुदुहुः। ततो महार्हाणि भास्वराणि रत्नानि महौषधयश्च जगतो हिताय प्रादुरभूवन्। अत्रापि हिमालयकल्पो मिश्रगोविन्दः, सर्वं वाङ्मयं गोरूपम्। मेरुकल्प आचार्यश्च दोग्धा। अस्मिन्दोहने समुद्भूतं किमप्यप्रतिमं अद्भुतं शक्तितत्त्वज्ञानं प्रादुरभवत्। शैलाश्चात्र सुशीलवन्तोऽसङ्ख्या जिज्ञासवो ये नाम सन्ति भविष्यन्ति च येषां चान्तःप्रेरणयैव मन्ये दोहनमिदं प्रवृत्तम्।

सर्वस्यापि दोहनस्य मूलकारणं धरित्री आधारशक्तिरेव। सा च प्रथनात् पृथुः पृथ्वी वा। तस्या एवेदं सर्वं विलसितम्।

इत्थं शास्त्रस्याऽस्य समुद्भूतिः सुप्राचीनमैतिहासिकं भौतिकं च वृत्तं ज्ञानात्मतया पुनरावर्तयति। तद्वृत्तं च महाकविना **कालिदासेन** संकेतितं **कुमारसम्भवे** यथा —

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं
मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च
पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्। (कु १/२)

इत्यलं विस्तरेण ॥२३॥

इति श्रीविमर्शिनीप्रकाशिनीभ्यां सहिते
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रे
त्रयोविंशतितमा कारिका।

—०***०—

माघे मासि सिते पक्षे शुक्रवारेऽष्टमीतिथौ
अग्निचन्द्रनभोनेत्रे वत्सरे वैक्रमे सुधीः ॥१॥
बलजिन्नाथनामा श्रीशिवदास्यसमीप्सया।
व्याख्यातवानिदं शास्त्रं शिवोऽनेन प्रसीदतु ॥२॥

इति **श्रीप्रसन्नपदा विमर्शिनी**समाख्या
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रस्य व्याख्या सम्पूर्णा।

—:*-०-卐-०-*:—

कृतिरियं महामहिम—आचार्य—श्रीमदमृतवाग्भव-
द्विजराजचरणप्रभाजालविकास्यमानहृदयकैरवस्य
काश्मीरकबलजिन्नाथपण्डितस्य।

समधीत्य शास्त्रमेतत्सरहस्यं ग्रन्थकर्त्तुराचार्यात् ।
रचिता रघुनाथेन प्रकाशिनीयं प्रसन्नार्था ॥१॥
प्रतिभा पुष्यतु परमा तुष्यतु सुमनाः समेधतां श्रद्धा ।
शास्त्रे सतीव परमेऽनया स्वहंसः समाविशतु ॥२॥
मायानरमिते याते श्रीमद्विक्रमवत्सरे ।
चैत्रे भृगौ सितेऽष्टम्यां समाप्तेयं प्रकाशिनी ॥२३॥

इति श्रीप्रसन्नार्था प्रकाशिनी समाख्या
श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रस्य व्याख्या संपूर्णा ।

—०***०—

कृतिरियं ज्योतिर्विद्वरेण्यपण्डितश्रीनानकचन्द्र—
तनूजनुषो 'बरमी' इत्युपाह्ववासिष्ठश्रीरघुनाथचन्द्रस्य ।

शिवमस्तु विश्वस्य ।

—०***०—

टीकोल्लिखितानां ग्रन्थानां सूची

अनुत्तराष्टिका १०७
आगमः ४८
आत्मविलासः ९७,१०१,१०४
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा २२,१००
उपनिषद् २६,७१,८३
कठोपनिषद् १०८
कुमारसम्भवम् ११७
तन्त्रसारः ९२
तन्त्रालोकः २६,४८,७२,१००
नारायणीयोपनिषद् ४६
पञ्चस्तवी ३५
परमार्थसारः ६४
पातञ्जलसूत्रम् ६१
भगवद्गीता ११,२१,२५,५७,६०,६४
१०७,१०९,११०
महानुभवशक्तिस्तवः ३०,४३,९७
राष्ट्रसञ्जीवनभाष्यम् ३१
वाक्यपदीयम् २८
वेदान्तसूत्रम् ११
वैराग्यशतकम् ६६
शिवमहिम्नस्तोत्रम् १२
शिवसूत्रम् १२,८२
शिवस्तोत्रावलिः १०,४६
श्रुतिः ८७
साहित्यदर्पणः ७२,७३,९४
सौन्दर्यलहरी ३५
स्तवचिन्तामणिः ११
स्वच्छन्दतन्त्रम् ४६

टीकोद्धृतप्रमाणवाक्यानामकारादिसूची

अक्षरामिन्दु ३१
अघोरेभ्योऽथ ४६
अणु स्वरूपदृश्वानं ४८
अनादिनिधनं २८
अपारे काव्य ११
अस्ति नास्त्य ४३
अस्थास्यदेक ७२
पितामहः शिशु ९७
पूर्णमदः ८७
प्रकृतं प्रतिषिध्य ७३
प्रतिक्षणं स्फुरन्तीषु २४
प्रत्युतैषां १०१
प्रत्येकं जपमा ४७
प्रेक्षकाणेन्द्रि ८२

अस्मीतिमात्र ३०,४३,९७
अहं ब्रह्म महो ४६
अहमग्निः ४१
आपूर्यमाणम् १०७,११०
एकोऽहं २४
एषा ब्राह्मी २५
ईश्वरो बहिर् १००
उपायजालं ९२
क-ट-प-य- ११४
कर्तृत्वं भज ४६
कविं पुराणम् ११
जगत् सूते धाता ३५
ज्ञानं तदुच्यते २१
तत्र को मोहः ८३
तत्र संकेतिता ९४
तमेव भान्तम् २९
तस्य वाचकः ९१
दुर्विज्ञेया हि २९
न तत्र सूर्यो २९
नमस्ते भवसम्भ्रान्त ११
नर्तक आत्मा १२,८२
नादत्ते कस्यचित् ५६
नासतो विद्यते ६०
नृणामेको गम्यस् १२
नेदं नभोमण्डलम् ७३
नैष शक्तिः २९
पराञ्चि खानि १०८
भोगे रोगभयं ६९
मिथो भिन्ना १०१
मुख्यार्थबाधे ९४
यं सर्वशैलाः ११७
यत्स्वयं निज ४९
यद् यद्विभूति २१
यस्य नाहङ्कृतो ६४
यात्येकतो ८९
रङ्गोन्तरात्मा ८२
रसस्योक्तिः ७३
रसो वै सः ७१
रागद्वेषवियुक्तैस्तु १०९
लङ्घनेन परो १००
वाग्रूपता चेद् २८
वामा संसारवमना ४८
वामा संसारिणाम् ४८
विरिञ्च्याख्या ३५
विलासो न स्व १०४
शान्तैर्घोरैर् ९७
शुद्धा शक्तिः ४६
संसारोऽस्ति न १०७
सदा सृष्टिविनो १०
सर्वं परवशं ५४
स्वयंसिद्धा ४६
सा स्फुरत्ता २२
हयमेधशत ६४

❀ श्री ❀

श्रीप्रसादिनी

सहित

श्रीविंशतिकाशास्त्र

श्रीजगदम्बाके चरणोंका रजःपराग सुमनमें
भरता है आमोद अपरिमित दिव्य लोकजीवनमें।
इनके चरणोंकी आभाका दिव्य प्रकाश हृदयमें
रचता नूतन कल्प ज्ञानके अभिनव सूर्योदयमें ॥

श्रीजगदम्बाके प्रसादके बन समुदार पुजारी
देते हैं आचार्य लोकको प्रतिभा मङ्गलकारी।
श्रीजगदम्बाकी अनुकम्पा करुणामय कल्याणी
स्फुट हो वही अमृतवाग्भवकी महामहिन वर वाणी ॥

अर्थप्रचुर लघु पूर्णपदों में सार तन्त्रका सारा
कलाकुशल कविने प्रतिभाके करसे सहज सँवारा।
छन्दोंके मणिदीप दिव्य ये अमृतज्योतिके द्वारा
सदा साधनापन्थ प्रकाशित करते रहें हमारा ॥

श्रीकी करुणाके क्षितिजों पर अमृतकान्ति ऊषा-सी
शिष्योंके मानसमें खिलती चिन्मय मञ्जूषा-सी।
गुरुकी कृपा अपार धन्य कर पद्की पर्वतश्रेणी
हुई प्रवाहित अर्थभूमि पर बन कर पुण्य त्रिवेणी॥

अमृतपदोंका अर्थ प्रकाशित कर 'विमर्शिनी' बहती
गङ्गा-सी उज्ज्वल प्रसन्न शुचिभाव-मर्मसे महती;
करके सूक्ष्म विमर्श अर्थका वह 'प्रकाशिनी' टीका
यमुना-सी गम्भीर चमत्कृत करती ज्ञान सभीका॥

उनके ही प्रवाहका संगम सरल मन्द भयहारी
हो 'प्रसादिनीके' प्रयागमें सुगम सर्वहितकारी।
मन्द सुगम इसकी धारामें निर्भय सब नर नारी
अवगाहन कर प्राप्त करें नित पुण्य भूतियां सारी॥

'अवतरणोंकी' सरल भूमिका सुगम प्रवेश बनाये
अन्वय-युक्त 'पदार्थ' मूलका अर्थ सहज प्रकटाये।
करे विशद 'भावार्थ' अर्थकी लहरोंकी रुचिश्रेणी
हो "प्रसादिनी" श्रीविद्याकी पावन पुण्य त्रिवेणी॥

मनुष्य-जीवनके अनेक उद्देश्य दिखाई देते हैं। ये सभी उद्देश्य जीवनकी आकाङ्क्षाओंकी पूर्तिके रूपमें हैं। शरीरकी आकाङ्क्षा भोजन है। भोजनको पा कर शरीर जीवित और स्वस्थ रहता है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ, मन आदि भी अपने विषयोंकी आकाङ्क्षा करते हैं और उन्हें पा कर सुखी होते हैं। ये सब लौकिक-आकाङ्क्षाएँ अर्थ और कामके अन्तर्गत हैं। इनसे ऊपर उठ कर मनुष्य धर्म और पुण्यके द्वारा परोपकार और स्वर्गकी साधना करता है। किन्तु इन सबसे बढ़ कर जीवनका परम उद्देश्य मोक्ष है।

'मोक्ष'के सम्बन्धमें विभिन्न आचार्योंके विभिन्न मत हैं। उन्होंने मोक्षकी व्याख्या अनेक-प्रकारसे की है और उसकी प्राप्तिके अनेक साधन बताये हैं। दर्शन-शास्त्रोंमें वे सब मत और मार्ग प्रसिद्ध हैं। किन्तु ऐसे भी सिद्ध-जन हैं जो इन मत-वादोंसे ऊपर हैं। वे सिद्ध-जन अत्यन्त उदार हैं। उदार होनेके कारण वे विभिन्न मतोंका खण्डन और तिरस्कार नहीं करते, अपितु पुष्पोंसे सुगन्धके समान सब मतोंसे सार ग्रहण करके मोक्षका ऐसा स्वरूप और साधन प्रकाशित करते हैं, जो सब सम्प्रदायोंके अनुकूल किन्तु सबसे अतीत है।

उनके अनुसार परमेश्वर शुद्ध प्रकाश-विमर्श रूप हैं। प्रकाश-रूप परमेश्वरका आन्तरिक-स्वरूप-बोध 'विमर्श' है। इसे हम 'अहम्' रूप कह सकते हैं, यद्यपि यह साधारण 'अहं'से अत्यन्त भिन्न है। इस विमर्शकी ही तन्त्रोमें 'विसर्ग' संज्ञा है। यह विमर्श ही अपनेको प्रकाशित करता है अथवा जगतके पदार्थ-जातको प्रकाशित करता है। प्रकाश-स्वरूप परमात्मा ही अपने विमर्शकी महिमासे विश्व-रूपोंमें भासित होता है। किन्तु ऐसा होता हुआ भी वह अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता। यही उसका पमेश्वरत्वहै। समस्त विश्व परमेश्वरका ही

लीला-विलास है। यह विलास परमेश्वरका स्वभाव है। परमेश्वर अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्तिके द्वारा विश्वरूपों में विलसित होता है।

परमेश्वरकी प्राप्ति ही 'मोक्ष' है। यह प्राप्ति किसी बाह्य विषयकी की प्राप्ति नहीं। परमात्मा किसीसे बाह्य नहीं है। सब परमेश्वरकी ही शक्तिका विलास है। अतः वह सबमें व्याप्त है। परमेश्वर हमारी आत्मा अथवा हमारा आन्तरतम स्वरूप ही है। परमात्माकी प्राप्ति अपने आत्मभूत महेश्वर-भावकी प्रत्यभिज्ञा है। यह प्रत्यभिज्ञा ही 'मोक्ष' है। जिसे अपने स्वरूपकी प्रत्यभिज्ञा हो गयी है ऐसा योगी साकार और साक्षात्-परमेश्वर है। सिद्धागमोंके अनुसार यह मोक्ष स्वभावसे ही सबको प्राप्त है क्योंकि सभी वस्तुतः शुद्ध, संविद्रूप तथा सदा मुक्त-स्वभाव हैं। अज्ञान-रूपी मलसे उनका स्वरूप आच्छादित हो गया है। यह अज्ञान काल्पनिक है। किन्तु स्वरूपगत सत्यके प्रकाशसे ही दूर हो सकता है। इस मलावरणके दूर होने पर अन्तर्गत परमेश्वरका रूप प्रकाशित होता है। पूर्ण-नैर्मल्यका भाव ही मुक्ति है।

इस नैर्मल्यकी प्राप्ति और आत्मस्वरूप परमेश्वरकी प्रत्यभिज्ञाके मार्ग अत्यन्त रहस्यमय हैं। ये रहस्यमय मार्ग गुरुके उपदेश द्वारा ही विदित होते हैं। शास्त्रोंमें उनका स्फुट प्रतिपादन होना सम्भव नहीं है, अतः उनका निर्देश-मात्र किया जाता है, जिससे दीक्षितों और प्रबुद्धोंका कुछ उपकार हो सके। परम-करुणामय श्रीआचार्य-महोदयने श्रीगोविन्द मिश्र नामक अपने प्रियजनके निमित्तसे सभी जिज्ञासुओं और अधिकारियोंके हितके लिये इस श्रीविंशतिका-शास्त्रकी रचना की है। 'श्रीविंशतिका-शास्त्र'में परमेश्वरके स्वरूप, सृष्टि-लीला, मोक्ष-मार्ग आदि गम्भीर और रहस्यमय विषयोंका संक्षिप्त किन्तु अर्थ-पूर्ण निर्देश किया गया है। अज्ञानकी निशामें भटकते हुए मानवके लिए यह शास्त्र

दीपकके समान है। इसके प्रकाशमें कोई भी चक्षुष्मान् अपने कल्याण का मार्ग ढूँढ़ सकता है।

'श्रीविंशतिका-शास्त्र'की प्रथम कारिकामें मङ्गल-मुखसे शास्त्रके तत्त्व और साधनाके मार्गका संकेत किया गया है—

ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयभावो यदायत्तः स्फुरेदयम्।
तामात्म शक्तिं वन्देऽहं विज्ञानां महतीं हृदि ॥१॥

पदार्थ — लोक-व्यवहारमें व्याप्त ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका भाव जिस (आत्म-शक्ति) के आश्रय तथा अधिकारसे प्रकाशित हो सकता है उस विज्ञान-स्वरूपिणी पारमेश्वरी अपरिमिता आत्म शक्तिको मैं हृदयमें नमस्कार करता हूं।

भावार्थ— परम रहस्यपूर्ण 'श्रीविंशतिका-शास्त्र'के आरम्भमें सरल और गम्भीर मङ्गलके निमित्तसे श्रीआचार्य महोदय शास्त्रके तत्त्व और साधनाके मार्गका संकेत करते हैं। मङ्गलाचरण सिद्धजनोंका लोक-मङ्गलकी भावनासे प्रेरित शिष्टाचार है। इस मङ्गलरूप प्रथम कारिकामें चित्स्वरूपिणी अपरिमिता पारमेश्वरी आत्म-शक्ति की वन्दना है, जो ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय-रूप जगद्व्यवहारकी आश्रय तथा उसकी स्वामिनी है। यह समस्त प्रपञ्चरूप संसार और व्यवहार अनेक सम्बन्धों-में आबद्ध है। ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयकी त्रिपुटी इन अनेक सम्बन्धोंका मूल है।

ज्ञानका विषय बन कर ही विश्वके अखिल पदार्थ प्रकाशित होते हैं। ज्ञानके अवलम्बके बिना उनकी सत्ता भी प्रमाणित नहीं हो सकती। किन्तु ज्ञान एक क्रिया है। क्रियाका एक कर्त्ता होता है। यह कर्त्ता क्रियाका आश्रय है। इस कर्त्ताके बिना क्रिया सम्भव नहीं हो सकती। ज्ञाता इस ज्ञानकी क्रियाका कर्त्ता हैं। वह ज्ञानका आश्रय है।

इस आश्रयमें ही विषयका ज्ञान प्रकाशित होता है। अतः आश्रय रूप ज्ञाता ही प्रमुख है। इसीलिए मङ्गलाचरणमें सबसे पहला पद 'ज्ञातृ' है।

'मैं घटको जानता हूं' इस वाक्यमें "मैं" जानने की क्रियाका आश्रय तथा कर्त्ता है। 'घट' उसका ज्ञेय अथवा विषय है। इसी प्रकार हमारे समस्त व्यवहारोंमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी त्रिपुटीका सम्बन्ध रहता है। जाग्रत् अवस्थामें ही नहीं स्वप्न और सुषुप्तिमें भी इस त्रिपुटीका परामर्श रहता है। ज्ञाता तो सर्वत्र 'अहं' रूप है। जाग्रत् अनुभवके ज्ञेय विषय बाह्य और स्थूल होते हैं, स्वप्नके विषय आन्तरिक और सूक्ष्म होते हैं। सुषुप्तिमें विषयोंका अभाव-सा प्रतीत होता है किन्तु जब हम गहरी नींदसे सो कर उठते हैं और कहते हैं कि 'मैं सुखसे सोया था' तो विदित होता है कि सुषुप्तिमें भी बोध रहता है और इस बोधका विषय कारण 'अहं' होता है। सुषुप्तिमें भी हम किसी बाह्य अथवा आन्तरिक विषयको नहीं तो विषयोंके अभाव रूप शून्यको अवश्य अपने 'अहं' के प्रकाश द्वारा जानते ही हैं।

'अहं' रूप ज्ञाता लोक-व्यवहारमें ज्ञानका आश्रय होनेके कारण ही प्रमुख नहीं है, शास्त्रके तत्वकी दृष्टिसे भी महत्वपूर्ण है। 'अहं' चेतना का वह बिन्दु है; जिसमें संविद्-रूपिणी पारमेश्वरी महाशक्ति हमारे बन्धनमय जीवनमें भी विभासित होती है। 'अहं' आत्म-ज्ञानका सूत्र है। 'अहं'के प्रत्ययमें ही अध्यात्मके द्वार उद्घाटित होते हैं। यह 'अहं' बिन्दुरूप है। बिन्दुको तन्त्रोंमें 'प्रकाश' कहते हैं। इस प्रकाशमें ही सृष्टिका बीज है। उसे विसर्ग कहते हैं। यही सृष्टिके विलासका रहस्य है। मङ्गल-कारिकामें 'ज्ञातृ' पदसे लौकिक-व्यवहार और अध्यात्म दोनोंमें ज्ञानके अधिष्ठान-रूप 'अहं'के महत्त्वका निर्देश किया गया है।

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयके भाव चित्स्वरूपपिणी आत्म-शक्तिमें आश्रित हैं और उसीके अधीन हैं। उसी आत्म-शक्तिके विलाससे

इन भावोंका स्फुरण होता है। समस्त विश्व उसीका विलास है। समस्त विश्व-प्रपञ्चकी आश्रय-भूता और स्वामिनी वह शक्ति आत्म-शक्ति है। वह आत्माकी चिन्मयी शक्ति है अथवा आत्मा ही शक्ति है। वह शक्ति स्वतन्त्र है और आत्माका स्वरूप ही है। समस्त विश्व उसी महाशक्तिके अधीन है। ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयके भाव भी स्वतन्त्र नहीं अपितु उसीके आश्रित हैं और उसीके उल्लाससे स्फुरित होते हैं।

वह आत्म-शक्ति 'विज्ञान-स्वरूपिणी' है। वह चिन्मयी है। 'ज्ञान' भी चित्‌का स्फुरण है। किन्तु 'ज्ञान' और 'विज्ञान'में भेद है। 'ज्ञान' निर्धारण-रूप है। जिसके द्वारा वस्तुकी सत्ता और असत्ताका निर्णय होता है, वह 'ज्ञान' है। यह ज्ञान ही 'प्रकाश' रूप है। इसे विन्दु कहते हैं। किन्तु विज्ञान कारयित्री शक्तिका रूप है, जिसके द्वारा यथेष्ट भावका निर्माण होता है। यह विज्ञान ही 'विमर्श' है। इसे 'विसर्ग' कहते हैं। 'ज्ञान'में परमेश्वरके विश्वोत्तीर्ण रूपका साक्षात्कार होता है। विश्वात्मक-रूपका साक्षात्कार 'विज्ञान' है। 'ज्ञान'से परमेश्वरके जिस रूपका साक्षात्कार होता है वह 'शिव' है। 'विज्ञान'से जिस रूपका साक्षात्कार होता है वह 'शक्ति' है। परमेश्वरका पूर्ण स्वरूप शिव-शक्तिकी समरसता है। 'शिव' और 'शक्ति' अभिन्न हैं।

यथेच्छ विश्वविधायिनी विज्ञान-स्वरूपा आत्म-शक्ति 'अपरिमिता' है। वह अनन्त और अनन्त-शक्तिमयी है। ऐसी महिमामयी आत्म-शक्तिकी मैं हृदयमें बन्दना करता हूँ। वन्दना हृदयका विनम्र और उदारभाव है। मानसिक वाचनिक और कायिक नमन उस हार्दिक भावकी अभिव्यक्ति-मात्र है। समुदार हृदयमें ही उस महाशक्तिका साक्षात्कार होता है। वह शक्ति स्वयं उदारभावा है। उदार भावसे ही उसका अभिज्ञान भी होता है। इस प्रकार ज्ञातृ, ज्ञान और ज्ञेय भावोंके स्फुरणकी आश्रयभूता, विज्ञान-स्वरूपिणी अपरिमित

महिमामयी आत्म-शक्तिकी वन्दना द्वारा आचार्य महोदयने शक्ति-के उदार-स्वरूप और उदार-साधनाकी ओर सूक्ष्म संकेत अधिकारियों-के लिये किया है यह महिमामय मङ्गलाचरण तत्त्व-दर्शन और तत्त्व-साधनाका मङ्गलसूत्र है ॥१॥

अवतरण :— दूसरी कारिकामें आत्म-परिचयके निमित्तसे आचार्य महोदयने स्वतन्त्र, निरपेक्ष, अमृत, शक्तिघन और स्वप्रकाश ब्रह्म-तत्त्व-के स्वरूपका संकेत किया है। तत्त्वका प्रकाश करनेवाले आचार्य ब्रह्म-स्वरूप ही हैं। वस्तुतः प्रत्येक मनुष्य ब्रह्म-स्वरूप ही है। अज्ञानावरणके कारण वह अपने वास्तविक रूपको नहीं पहचानता। अपने ब्रह्म-रूपका अभिज्ञान ही मोक्ष है। जीवन्मुक्त योगी और आचार्य साक्षात् ब्रह्मस्वरूप ही हैं —

स्वतन्त्रं निरपेक्षं यदमृतं ब्रह्म वाग्भवम् ।
परिपूर्णं शक्तिघनं स्वप्रकाशं तदस्म्यहम् ॥२॥

पदार्थ — जो परम स्वन्तत्र है, अर्थात् जो किसीके अधीन नहीं है, और जिसकी समस्त लीला अपनी ही शक्तिका विलास है, जो किसीकी अपेक्षा नहीं करता, अतः पूर्ण निरपेक्ष है और किसी आत्मातिरिक्त पदार्थका ग्रहण न करके अपनी स्वभावभूत-शक्ति-से ही विश्वका विस्तार करता है। जो अमृत अर्थात् अमर अनन्त अथवा शाश्वत है, जो अपरिमित और विमर्श-सार है अर्थात् जिसके स्वरूप-विमर्शसे समस्त वाङ्मय और विश्वका विस्तार हुआ है, जो सर्वथा और सर्वतः परिपूर्ण है, जो अनन्त-शक्तिमय तथा स्व-प्रकाश अर्थात् अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला है, वही अमृत-वाग्भव स्वरूप मैं हूँ।

भावार्थ — पहली करिकामें आत्मशक्तिकी वन्दना करके दूसरी कारिकामें अपने परिचयके निमित्तसे परमेश्वरके स्वरूप और उसके साथ अपनी (तथा वस्तुतः प्रत्येक जीवकी) अभिन्नताका निर्देश करते हैं । इस निर्देशमें कुछ मुख्य विशेषणोंके द्वारा ब्रह्मके स्वरूप-का संकेत भी किया गया है । ग्रन्थकर्त्ता आचार्य परमेश्वरसे अभिन्न हैं । यह इस कारिकाका तात्पर्य है । 'जो ब्रह्म है वही मैं हूँ' यह कारिकाका मुख्य वाक्य है । यह वेदान्तके 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ही ब्रह्म हूं) के समान महावाक्य है । शेष पद ब्रह्मके विशेषण हैं। 'ब्रह्मका' अर्थ बृहद् अर्थात् अपरिमित है जो देश काल आदिकी सीमाओंसे रहित है, वही अनन्ततत्त्व 'ब्रह्म' है। उपनिषद्में 'ब्रह्म'-को अनन्त कहा है। (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) यह अनन्त-स्वरूप ब्रह्म स्वतन्त्र है अर्थात् वह किसीके अधीन नहीं है । सृष्टि आदिकी रचनामें भी वह किसीकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करता । उसके समस्त लीला-विलास अपनी स्वच्छन्द इच्छासे सञ्चालित होते हैं। कार्य-कारणके नियमकी परतन्त्रता भी ब्रह्ममें नहीं है । उसकी सृष्टि-रचनाका क्रम विचित्र है । हम उसे 'विक्रम' कह सकते हैं । स्वयम् प्रकाश-विमर्श-रूप होते हुए भी वह विश्व-रूपसे विभासित होता है । किन्तु अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता, यह भी उसकी स्वतन्त्रताका लक्षण है ।

वह ब्रह्म निरपेक्ष है अर्थात् वह अपनी सिद्धिके लिए किसीकी अपेक्षा नहीं करता । समस्त पदार्थ-जात अपनी सिद्धिके लिए चेतना-की अपेक्षा करते हैं । किंतु चित्स्वरूप ब्रह्म अपनी सत्ता अथवा सिद्धि-के लिए किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं करता । किसीको भी अपने अस्तित्व-में संशय नहीं होता । 'मैं हूं' यह सभी मानते हैं । पूर्ण होनेके कारण भी ब्रह्म निरपेक्ष है । जो अपूर्ण है वही अपनेको पूर्ण बनानेके लिये किसी दूसरेकी अपेक्षा करता है । ब्रह्म पूर्ण है; अतः निरपेक्ष है ।

ब्रह्म पूर्ण है, क्योंकि उसमें किसी भी प्रकारका अभाव नहीं है। उपनिषदोंमें 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' करके ब्रह्मकी पूर्णताका निर्देश किया गया है। वह पूर्ण ब्रह्म 'शक्तिघन' है अर्थात् वह शक्तिमय अथवा शक्तिस्वरूप है। ब्रह्मका शक्तिमयत्व सम्बन्ध-वाचक नहीं है, जिस प्रकार 'सैन्धवघन'का अर्थ यह है कि वह सब लवण ही है, उसी प्रकार 'शक्तिघन'का अर्थ यह है कि ब्रह्म 'शक्ति' ही है। वह 'शक्ति'का 'आश्रय' नहीं अपितु शक्ति उसका 'स्वरूप' ही है। यह 'शक्ति' विमर्शरूपिणी है। ब्रह्मकी विमर्श-शक्तिसे ही यह विश्व उद्भासित होता है। 'शक्ति' और 'शक्तिमान्' एक दूसरेसे अभिन्न हैं। 'शक्ति' ब्रह्मका स्वरूप ही है। ब्रह्म अपने स्वरूपमें परिपूर्ण अर्थात् शक्तिसे परिपूर्ण है। वह ब्रह्म 'प्रकाशमय' भी है। सम्पूर्ण विश्व प्रकाशसे ही प्रकाशित है। प्रकाशके बिना विश्व अन्धकारमय होता। प्रकाश यदि चेतना-रहित होता तो वह जड़ होता अथवा वह होता भी या न होता, कौन कह सकता? क्योंकि प्रकाश और चेतनाके अनुग्रहसे ही विश्वके अस्तित्वकी चर्चा आरम्भ होती है। इस प्रकार समस्त विश्व अपनी सत्ता और सिद्धिके लिये प्रकाश अथवा चेतनाकी अपेक्षा करता है। किन्तु ब्रह्म 'स्वप्रकाश' है। वह स्वयं ही अपनेको प्रकाशित करता है। अपने स्वरूपके प्रकाशनके लिये वह किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं करता। 'विमर्श-शक्ति'के समान प्रकाश भी उसका स्वरूप ही है। प्रकाशको प्रकाशनके लिये अन्य प्रकाशककी अपेक्षा नहीं होती। वह अपने स्वरूपकी महिमासे स्वयं प्रकाशित हो रहता है और अन्य सब पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है जैसा कि उपनिषद् में कहा है कि उसीके प्रकाशसे सब विश्व प्रकाशित होता है।

ऐसा स्वतन्त्र, निरपेक्ष, परिपूर्ण, शक्तिघन और स्वप्रकाश ब्रह्म 'अमृत' है। 'अमृत'का अर्थ अमर है। अनन्त होनेके कारण ब्रह्म शाश्वत है। उसमें कालका परिच्छेद नहीं है। अतः वह अकाल और अनश्वर है। मरण कालगत अन्त है। वह काल परिच्छिन्नमें ही व्याप्त

होता है। 'जरा' मरणकी क्रमिक गति है। कालसे अपरिच्छिन्न होनेके कारण ब्रह्म जरा-मरणसे रहित अर्थात् अविनाशी और अमृत है। 'अमृत' मधुर और आनन्दमय भी होता है। 'ब्रह्म' आनन्दमय और शाश्वत होनेके कारण अमृत–तुल्य माधुर्यसे परिपूर्ण है।

वह अमृत-स्वरूप 'ब्रह्म' वाग्भव है अर्थात् वाणीका उदयाचल है। प्रकाश-विमर्श-स्वरूप होनेके साथ-साथ ब्रह्म वाग्रूप अथवा शब्दरूप भी है। चतुर्धा वाणीमें परावाणी ब्रह्मका ही स्वरूप है। वाणीके अन्य रूप उसके विवर्त्त हैं। परावाणीसे ही अर्थ-भावसे ब्रह्मका विवर्त्त-रूप स्फोट होता है। वाणी अथवा शब्दके रूपमें ब्रह्मसे अर्थ-रूप विश्वका स्फोट होता है। अत एव वह प्रकाशरूप अमृत ब्रह्म वाङ्मय है। समस्त शास्त्र उसका ही रूप है। भर्तृहरिने अपने 'वाक्यपदीय'-की प्रथम कारिकामें 'ब्रह्म'को 'अक्षर' कहनेके साथ साथ 'शब्दतत्त्व' भी कहा है।

भर्तृहरिके अनुसार वाग्रूपता ही अवबोधकी प्रकाशरूपताका आधार है। यदि वाग्रूपताका उच्छेद हो जाय तो प्रकाश प्रकाशित नहीं हो सकता और न प्रकाशन कर सकेगा। तात्पर्य यह है कि वह अमृत-स्वरूप ब्रह्म वाङ्मय है।

वह अमृत स्वरूप वाङ्मय ब्रह्म मैं ही हूँ। अर्थात् शास्त्रके उपदेष्टा आचार्य साक्षात् अमृतवाग्भव ब्रह्मस्वरूप ही हैं। ब्रह्मका साक्षात्कार होनेके कारण वे ब्रह्म ही हैं। जैसा कि उपनिषद्का वचन है 'ब्रह्मविद्-ब्रह्मैव भवति' अर्थात् ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होता है ॥२॥

अवतरण — मङ्गल-वन्दना और आत्म-परिचयके निमित्तसे आत्म-शक्ति-रूप ब्रह्मके वाङ्मय-रूपका निर्देश करके तीसरी कारिकामें आचार्य महोदय इच्छा, ज्ञान और क्रियाके रूपमें आत्म-शक्तिके स्फुरण

तथा बन्ध, मोक्ष आदिके रूपमें उसके लीला-वैचित्र्यका निर्देश करते हैं। वह आत्मशक्ति ही इच्छा, ज्ञान और क्रियाके स्वतन्त्र व्यापारके द्वारा निग्रह और अनुग्रह करती है। निग्रह बन्धन है, अनुग्रह मोक्ष है। दोनों ही भगवतीकी कृपाके फल हैं —

स्वयंसिद्धा भगवती ब्रह्म-शक्तिरहम्महः।
इच्छत्यवेति कुरुते निग्रहाऽनुग्रहात्मिका ॥३॥

पदार्थ — वह स्वयंसिद्ध ऐश्वर्यवती (भगवती) अहं ज्योतिःस्वरूप (अहम्महः) तथा वाङ्मय-स्वरूपिणी निग्रह-अनुग्रहमयी हो कर इच्छा, ज्ञान और क्रियाकी अभिव्यक्ति करती है।

भावार्थ — वह ब्रह्मशक्ति अपनी सत्ता और सिद्धिके लिए किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं करती। अतः वह 'स्वयंसिद्धा' है। वह आत्मशक्ति-रूप है। आत्म-चेतना स्वयंसिद्ध है। सबको अपने अस्तित्वका बोध है। उसके लिए कोई अन्य प्रकाश या प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करता। इसके विपरीत वह सब प्रमाणोंका आश्रय है। वह स्वयंसिद्धा आत्मशक्ति परम ऐश्वर्यावती है। ऐश्वर्य उसका स्वरूप ही है। इसी लिए वह परमेश्वरी है। उसके ऐश्वर्यसे पूर्ण होनेके कारण ही परमेश्वर 'शक्तिघन' है। भगवतीका यह ऐश्वर्य विमर्श-शक्ति-स्वरूप है, जिससे वह विश्वका विस्तार करती है। प्रकाश भी उसका ऐश्वर्य है, जिसके द्वारा वह मोक्षका अनुग्रह करती है।

वह आत्मशक्ति अनन्त होनेके कारण ब्रह्म-शक्ति है। 'ब्रह्म' शक्तिसे परिपूर्ण अथवा शक्ति-स्वरूप है। वह आत्म-शक्ति ब्रह्मस्वरूपा है। अर्थात् अनन्त-स्वरूपिणी है। वह 'अहं' ज्योतिःस्वरूपा और वाङ्मय-स्वरूपिणी है। 'अहम्महः'के दोनों ही अर्थ हैं 'महः'का अर्थ ज्योति है। 'अहं'का साधारण अर्थ अपने अस्तित्वकी प्रतीति है। इस अहंके बोधमें ही

आत्म-शक्तिका प्रकाश होता है। इसी लिए वह 'अहम्महः' अर्थात् आत्म-प्रकाश है। आत्म-शक्तिका विमर्श-रूप ऐश्वर्य 'अहं'-बोधमें अवभासित होता है। 'अहं'का दूसरा अर्थ 'अ' से लेकर 'ह' तक समस्त वर्ण-समाम्नाय है। यह समस्त वाङ्मय उस आत्म-शक्तिका ही प्रकाश है, जैसा कि पिछली कारिकामें बताया गया है। अतः वह आत्म-शक्ति वाङ्मय-स्वरूपा है। वाङ्मय और उससे अभिलक्षित समस्त विश्व उसका ही प्रकाश है। वस्तुतः वह विमर्श प्रकाश-रूप है। विमर्श 'विसर्ग' है और प्रकाशको 'बिन्दु' कहते हैं। वस्तुतः यह प्रकाश विमर्श अभिन्न हैं। बिन्दु और विसर्ग भी वस्तुतः एक ही हैं। अन्तर्लीनरूप में जो प्रकाश-रूप बिन्दु 'अहं' अथवा अनुस्वार है, वहिर्मुख रूपमें वही विमर्श विसर्ग और 'महः' है। विपर्यय-क्रमसे 'अहं' ही 'महः' है (अ + ह + अ + म्)। 'आरोहक्रममें जो आत्म-शक्ति प्रकाश रूप अहं-भावमें अन्तर्मुखी होती है, अवरोहक्रममें विमर्श-रूप वही विश्व-रूपोंमें साकार होती है। आरोह-शक्तिकी आत्म-मुखी गति है। अवरोह उसकी विश्व-मुखी गति है। आरोह 'मोक्ष' है, अवरोह 'बन्धन' है। 'आरोह' अनुग्रह है, 'अवरोह' निग्रह है। दोनों आत्म-शक्तिके अभिन्न रूप हैं।

वह अहंज्योतिःस्वरूपा ब्रह्मशक्ति इच्छा, ज्ञान और क्रियाके रूपमें अभिव्यक्त होती है तथा विश्वका निग्रह और अनुग्रह करती है। निग्रह और अनुग्रह दोनों भगवतीके स्वरूप हैं। निग्रहका अर्थ दण्ड है और अनुग्रहका अर्थ अनुकम्पा है। निग्रह बन्धन है और अनुग्रह मोक्ष है। यह निग्रह और अनुग्रह दोनों ही भगवतीके प्रसाद हैं। ये दोनों विरोधी धर्म हैं, किन्तु एक ही आत्म-शक्तिमें वे दोनों वर्त्तमान हैं। इसमें कोई असङ्गति नहीं है। विरोधी धर्मोंकी उपस्थिति ही शक्तिका चमत्कार है। वह उभयतः शक्तिमयी है। उसका वहिर्मुख विमर्श सर्ग और बन्धनका कारण है। उसका अन्तर्मुख प्रकाश मोक्षका कारण है।

निग्रह और अनुग्रह सापेक्ष है। सापेक्ष रूपमें दोनोंकी सङ्गति सम्भव है। एकका निग्रह, दूसरेका अनुग्रह हो जाता है। राजा दुष्टोंको दण्ड देता है। दुष्टोंका यह निग्रह साधुओंको अनुग्रह बन जाता है। निग्रह और अनुग्रहकी सापेक्षता और भी घनिष्ट हो सकती है। पिता अथवा गुरु हितके लिए बालकको दण्ड देते हैं, यहाँ निग्रह ही अनुग्रह है। आत्म-शक्तिका यह निग्रह और अनुग्रह इच्छा, ज्ञान और क्रियाके रूपमें होता है। आत्म-शक्ति इच्छाशक्ति रूप है। वह सर्व-समर्थ है। किन्तु वह पूर्ण-स्वरूपा है। उसमें कोई अभाव नहीं है। अतः उसकी इच्छा किसी अभावकी पूर्तिके लिये नहीं है अपितु अपने चमत्कारके प्रकाश-मात्रके लिए है। भगवतीकी इच्छा उनकी पूर्णता और महिमाका उल्लास है। विश्वका विस्तार उनकी इच्छाका ही चमत्कार है। इच्छा ज्ञानमयी होती हैं। भगवतीकी इच्छामें उनकी अपार चेतना ही विलसित होती है। इच्छा-ज्ञानमयी भगवती क्रिया-शक्तिके रूपमें सृष्टिका विस्तारकरती है ॥३॥

अवतरण — अहं-प्रकाशमयी विमर्श-शक्ति किन रूपोंके द्वारा निग्रह और अनुग्रह करती है इसका निर्देश इस चौथी कारिकामें किया गया है। यह प्रपञ्चात्मक जगत् नाम-रूपात्मक है और जैसा कि पिछली कारिकाओंमें बताया गया है, यह जगत् आत्म-शक्तिके विमर्शका ही विस्तार है। 'विमर्श' बिन्दुके प्रस्तारसे ही वाङ्मय और विश्व-रूप ग्रहण करता है। 'नाम' इन रूपोंके अभिधान हैं। इन रूपोंमें साकार हो कर भगवती आत्म-शक्ति निग्रह और अनुग्रह करती है। किन्तु निग्रह और अनुग्रह करते हुए भी वह सदा अपने आनन्दमय स्वरूपके रसमें विभोर रहती है —

शान्तैर्घोरैर्घोरतमैः स्वं रूपैर्नामभिश्च या।
निगृह्णात्यनुगृह्णाति पिबन्ती स्वरसासवम् ॥४॥

पदार्थ — जो भगवती आत्म-शक्ति स्वात्म-चमत्कार-रूपी आसव-रसका पान करती हुई उसके आनन्दमें विभोर रहती है, वही आत्म-रूप अर्थात् अपने स्वरूपसे अभिन्न जीवों पर शान्त, घोर और घोरतम रूपवाले और नामवाले अपने भिन्न-भिन्न स्वरूपोंके द्वारा निग्रह तथा अनुग्रह करती है।

भावार्थ — भगवती आत्म-शक्तिका विश्वोत्तीर्ण स्वरूप तो अविकल्प है और सुप्रबुद्ध जनोंके द्वारा तुरीय तथा उससे अतीत अवस्थाओंमें उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। उनका विश्वात्मक रूप ही विकल्प-युक्त वैखरी-वाणीके रूपोंमें उपदेशका विषय हो सकता है। वस्तुतः अविकल्प होनेके कारण शब्दोंके द्वारा उसके वास्तविक स्वरूपका निर्देश नहीं हो सकता। इसी लिये आचार्य और सिद्ध-जन रहस्यमय अर्थके व्यञ्जक शब्दोंके द्वारा तत्त्वका उपदेश करते हैं। इन रहस्य संकेतोंका सार ग्रहण करके साधनाके द्वारा निष्ठावान् जन तत्त्व-साक्षात्कारकी अवस्था तक पहुँच सकते हैं। किन्तु इन रहस्योंके सूत्र गुरु-पराम्पराके द्वारा ही प्राप्त होते हैं। उपदेशमें जिन नामों और रूपोंका उपयोग होता है वह भी विकल्प-युक्त ही होते हैं। अतः तत्त्वके उपदेश-को 'अरुन्धती-न्याय'से ही समझना चाहिये। उपदेश और गुरुके अनुग्रहसे प्रबोध प्राप्त करके साधककी आत्म-चेतना जाग्रत् होती है और वह शुद्ध प्रकाश--विमर्श--रूप आत्म--शक्तिका साक्षात्कार करता है। किन्तु शुद्ध--प्रकाश-विमर्श--रूपा भगवती आत्म-शक्ति ही अपने चमत्कारके द्वारा विश्व-रूपमें विभासित होती है। यह 'विश्व' नाम-रूपात्मक है। संसारमें जो कुछ दिखाई देता है। उसका कुछ 'रूप' है। इस रूपके द्वारा हम उसे जानते हैं। उसका कुछ 'नाम' भी है, जिसके द्वारा हम उसे पुकारते हैं। ये 'नाम-रूप' ही लोक-व्यवहारके आधार है। भगवती आत्म-शक्ति स्वयं इन रूपोंमें साकार हो कर लोकका निग्रह

और अनुग्रह करती है। भगवतीके निग्रह और अनुग्रहके कार्योंमें तीन रूप प्रधान हैं। इनके नाम शान्त, घोर और घोरतम हैं। जिन रूपोंके द्वारा भगवती निग्रह करती है वे 'घोर' और 'घोरतम' कहलाते हैं। जिनके द्वारा वे अनुग्रह करती हैं वे 'शान्त' कहलाते हैं। शान्त-रूपको 'अघोर' भी कहते हैं। 'निग्रह' बन्धन है, 'अनुग्रह' मोक्ष है। निग्रहकी अवस्थामें जीवके आत्म-स्वरूपका अधिकाधिक तिरोधान होता जाता है। अनुग्रहकी अवस्थामें स्वरूपकी अधिकाधिक प्रत्यभिज्ञाके द्वारा शिवत्वकी प्राप्ति होती है। भगवतीका 'घोरतम' रूप निग्रह करता हैं और 'शान्त' रूप अनुग्रह करता हैं। 'घोर रूपमें घोरतमका समन्वय है। जिन रूपोंके द्वारा भगवती जीवोंको सांसारिक सुख प्रदान करती हुई उन्हें क्रमसे प्रत्यभिज्ञाके प्रति अभिमुख करती हैं वे भगवतीके 'घोर' रूप कहलाते हैं। आगमोंमें घोरतम, घोर और शान्त रूपोंकी क्रमशः वामा, ज्येष्ठा और रौद्री संज्ञा भी है।

उक्त तीनों रूपोंमें जीवोंका निग्रह और अनुग्रह करती हुई भगवती आत्म-शक्ति अपने स्वरूप और चमत्कारके आनन्दमय आसव-का पान करती हुई उसके रसमें विभोर रहती है। शुद्ध-प्रकाश-विमर्श-रूपा भगवतीका स्वरूप रसमय है। 'रसो वै सः'के अनुरूप उपनिषदोंके ब्रह्मका स्वरूप भी रसमय है। 'रस' आनन्दमय है। वेदान्तका ब्रह्म सदा इस आनन्दमें ध्रुव रहता है। भगवती आत्म-शक्ति भी निग्रह और अनुग्रह करती हुई अपने इस रस-स्वरूपमें स्थिर और विभोर रहती है ॥४॥

अवतरण — भगवतीका यह निग्रह और अनुग्रह सृजन, पालन और संहार-पूर्वक होता है। निग्रहका रूप सृजन ही है। निग्रह बन्धन है। प्रपञ्चात्मक-सृष्टि बन्धनमयी है। यों मोक्ष आत्माका नित्य स्वरूप है,

किन्तु साध्यके रूपमें अनुग्रह अथवा मोक्षका प्रश्न बन्धनकी अपेक्षासे ही उठता है। अतः निग्रह और अनुग्रह अथवा बन्धन और मोक्ष दोनोंका सम्बन्ध सृजनसे है। जिसकी सृष्टि होती है उसका पालन भी होता है। पालनके द्वारा ही उसकी स्थिति सम्भव होती है। किन्तु अन्ततः उसका विलय भी होता है। निग्रह सृष्टि है। 'घोर-रूप'का अनुग्रह पालन है और शान्त-रूपका अनुग्रह विलय है। आत्माकी प्रत्यभिज्ञा होने पर प्रपञ्चात्मक विश्वका विलय हो जाता है। विश्वके इन रूपोंका सृजन भगवती किसीकी अपेक्षाके बिना अपने स्वरूपके विमर्शसे ही करती है। किन्तु सृजन, पालन और संहार करती हुई भी वह नित्य समरसताके आनन्दमें निमग्न रहती है। यही भगवतीका महाऽनुभव-रूप है। सृजन आदि भगवतीके चमत्कारको लीलाएँ हैं। समरसानन्द उनकी नित्य स्थिति है। इस पाँचवी कारिकामें भगवतीकी त्रिविध लीला और स्वरूप-स्थिति दोनोंका एकत्र वर्णन किया गया है —

सृजन्त्यवन्त्यदतीयमात्मनाऽऽत्मानमात्मनि ।
नित्यं समरसानन्दा महानुभवमश्नुते ॥ ५ ॥

पदार्थ — वह भगवती आत्म-शक्ति अपने आपके ही भीतर अपनी ही शक्ति-रूपताके द्वारा अपने आपको ही सृष्टि तथा अपने आपका ही पालन और संहार करती हुई सदा अपनी समरसताके आनन्दमें निमग्न रहती है, और अपने स्वरूपके महान् अनुभवमें विभोर रहती है। तात्पर्य यह है कि भगवतीकी यह सृष्टि किसी बाह्य उपादानको ले कर नहीं होती। भगवतीके आत्म-स्वरूपके अतिरिक्त अन्य कोई उपादान नहीं है। वे ही सृष्टिका निमित्त कारण भी हैं। उन्हींमें सृष्टिका आश्रय भी है। वेदान्तके ब्रह्मके समान वे सृष्टिका अभिन्न-निमित्तोपादान कारण हैं। यही स्थिति और संहारके विषयमें भी है। सृजन, पालन और संहार करती हुई भी भगवती सदा समरसानन्द-रूप महानुभवमें निमग्न रहती हैं।

भावार्थ — भगवतीका निग्रह और अनुग्रह सृष्टि-पूर्वक होता है। उनका स्वरूप सदा स्वतन्त्र, मुक्त और आनन्दमय है। उस स्वरूपमें निग्रह और अनुग्रहका कोई प्रश्न नहीं है। निग्रह बन्धन है और अनुग्रह उसकी अपेक्षासे ही अर्थवान् है। निग्रह होने पर ही अनुग्रहका अथवा बन्धन होने पर ही मोक्षका प्रसङ्ग उपस्थित होता है। यह निग्रह विमर्श-शक्तिका नाम-रूपके भेदसे विस्तार है। यही सृष्टि है। सृष्टि नाम-रूपात्मक ही है। वाङ्मय और विश्व, विमर्श-बिन्दुओंका ही प्रस्तार है। जिसकी सृष्टि होती है उसका संहार भी होता है। सृष्टिका अन्त लय है। सृष्टि आरम्भ है। जिसका आरम्भ है उसका अन्त भी है। कालमें आरम्भ होनेवाली कोई भी वस्तु अनन्त अथवा शाश्वत नहीं है। 'स्थिति' सृष्टि और लयके बीच की अवस्था है। एक ही क्षणमें सृष्टिके साथ लय नहीं होता। उत्पन्न वस्तु कुछ कालतक वर्त्तमान रहती है। यही उसकी स्थिति है। स्थिति-कालमें नामरूपों-की रक्षा होती है। ये सृजन, रक्षण और संहार भगवतीकी चमत्कार-मयी लीलाके तीन मुख्य रूप हैं।

इनके सम्बन्धमें विवेचन करते समय तीन प्रश्न उठते हैं। पहला प्रश्न यह है कि सृष्टिका उपादान क्या है? उपादानका अभिप्राय उस पदार्थ-तत्त्व से है जिसको ले कर कोई रचना की जाती है। मिट्टी-को ले कर घड़ा बनाया जाता है। मिट्टी घड़ेका उपादान कारण है। दूसरा प्रश्न सृष्टिके कर्त्ताका है। इसे निमित्त कारण कहते हैं। कुम्हार घड़ा बनाता है। वह उसका कर्त्ता है। उसे घड़ेका निमित्त-कारण कहते हैं। तीसरा प्रश्न आश्रयका है। बिना किसी आश्रयके उपादान और निमित्त दोनों कहाँ ठहरेंगे? आश्रयके बिना न निमित्त-कारण अपना सृष्टि-कार्य कर सकता है और न उपादानसे सृष्टि हो सकती है। रक्षण और संहारके सम्बन्धमें भी ये तीनों प्रश्न उठते हैं। रक्षण और संहारके विषयको हम उपादान कह सकते हैं तथा रक्षण और संहार करने वालेको हम निमित्त कह सकते हैं। आश्रयका प्रश्नपूर्ववत् है।

निग्रह और अनुग्रहके लिए भगवती आत्म-शक्ति जो सृजन, रक्षण और संहार करती हैं उनका उपादान निमित्त और आश्रय क्या है ? इसका उत्तर यही है कि तीनों धर्मोंका उपादान, निमित्त और आश्रय स्वयं भगवती आत्मशक्ति हैं। उनके अतिरिक्त और किसी पदार्थ अथवा सत्यकी सत्ता नहीं है, जो सृष्टि आदिका उपादान निमित्त आदि बन सके। भगवती स्वयं अपने आत्म-स्वरूपके उपादानसे ही अपनी विमर्श-शक्तिके द्वारा सृष्टि करती हैं। वे ही सृष्टिका आश्रय भी हैं। रक्षण और संहारका विषय, निमित्त और आश्रय भी स्वयं वे ही हैं।

सृजन, रक्षण और संहार-पूर्वक निग्रह और अनुग्रह करती हुई भी भगवती सदा अपने समरसानन्द स्वरूपमें स्थित रहती हैं और उस स्वरूपके महान् अनुभवमें निमग्न रहती हैं। रस ही आनन्द है। वही भगवतीका स्वरूप है। वह रस 'सम' है। समत्व उसका रूप है। स्थिति, रक्षण और संहारमें वह समान रहता है। वस्तुतः रस आत्मा-का स्वरूप है। भगवतीके समस्त लीला-रूपोंमें वह आनन्दमय स्वरूप अच्युत और समान रहता है। बालकोंकी लीलामें हम इस समर-सानन्दका आभास पाते हैं। वे अपने घरौंदोंको बना कर, उनसे खेल कर तथा उन्हें तोड़ फोड़ कर समान रूपसे आनन्दित होते हैं। भगवतीके स्वरूपका यह समरसानन्द महान् अनुभव है। आत्माका स्वरूप अनन्त है। अतः वह आनन्द भी अपरिमित अनुभूति है। सृष्टि, रक्षण, निग्रह और अनुग्रहके बीच भी भगवती समरसानन्दके महान् अनुभवमें निमग्न रहती है ॥५॥

अवतरण — आनन्दमय स्वरूपके महानुभवमें निमग्न भगवती आत्म-शक्ति सृष्टि आदि करती हैं। यह नाम-रूपात्मक जगत् पुण्य, पाप आदिके भेदसे भी मुक्त है। यदि भगवती ही सृष्टिकी विधात्री हैं तो इन पुण्य, पाप आदिका उत्तरदायी कौन है ? इस छठी कारिका-में भगवतीके निर्लिप्त स्वरूपका निर्देश किया है और यह बताया है कि

पुण्य, पाप आदि कल्पित हैं और वे भगवतीके स्वरूपका उसी प्रकार स्पर्श नहीं करते, जिस प्रकार ओले आदि आकाशका स्पर्श नहीं करते। भगवतीका स्वरूप आकाशके समान ही निर्लेप है—

कल्पित पुण्यपापादि नैव स्पृशति जात्वपि ।
निर्लेपं सर्वगमपि करकादिवियद्यथा ॥ ६ ॥

पदार्थ — पुण्य, पाप आदि कल्पित हैं। वे भगवती आत्मशक्तिके स्वरूपका उसी प्रकार स्पर्श नहीं करते जिस प्रकार ओले आदि आकाशका स्पर्श नहीं करते। आकाश सबमें व्याप्त होते हुए भी निर्लेप है। इसी प्रकार विश्व-रूपोंमें तथा जीवोंमें व्याप्त होते हुए भी भगवतीका स्वरूप जीवकृत पुण्य, पाप आदिसे अछूता रहता है।

भावार्थ — पुण्य, पाप आदि कल्पना-सापेक्ष हैं। देश, काल आदिकी अपेक्षासे कहीं जो पुण्य समझा जाता है, वही अन्यत्र पाप है। एक अपेक्षासे जो पाप है वही दूसरी अपेक्षासे पुण्य है। प्रजाजनके द्वारा किया गया वध पाप कहलाता है। राजाकी आज्ञासे दण्डके रूपमें अपराधीका वध न्याय है। परिस्थितिकी सापेक्षता और परस्पर-सापेक्षताके कारण पुण्य, पाप आदि काल्पनिक हैं। काल्पनिक होनेके कारण वे असत्य हैं। अतः वे भगवतीके चिदानन्दमय स्वरूपका किंचित्-मात्र भी स्पर्श नहीं करते। जो काल्पनिक और असत्य है, उसका सत्य पर कोई प्रभाव नहीं हो सकता। पुण्यसे वृद्धि होती है और पापसे क्षति होती है। नित्य समरसानन्दमयी और परिपूर्ण-स्वरूपा भगवती आत्मशक्तिमें कोई वृद्धि और क्षय सम्भव नहीं है। अतः पुण्य और पाप उनका स्पर्श नहीं करते। जीव और पदार्थोंका यह जगत् ऐन्द्रजालिकके गन्धर्व-नगरकी भाँति भगवतीका चमत्कार है। जिस प्रकार अपने रचे हुए माया-नगरकी छलनाएँ ऐन्द्रजालिकको प्रभावित नहीं करतीं, उसी प्रकार अपने चमत्कारसे प्रसूत विश्वकी

पुण्य-पापमयी माया भगवतीके स्वरूपका स्पर्श नहीं करती, अर्थात् उसमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं करती।

भगवतीके इस निर्लेप स्वरूपको स्पष्ट करनेके लिए आचार्य-महोदयने आकाशकी उपमा दी है। आकाशकी उपमा अत्यन्त उपयुक्त है। आकाश भगवतीके समान ही अनन्त और निर्लिप्त है। इसी लिए वेदान्त-सूत्रमें आकाशको ब्रह्मके अनुरूप बताया है ('आकाशस्तल्लिङ्गात्') आकाश सबमें व्याप्त है किन्तु सर्व-व्यापक होते हुए भी वह पूर्णतः निर्लिप्त है। वर्षा, बादल, धूल आदि किसीका भी उस पर प्रभाव नहीं होता। वह धूलसे मलिन नहीं होता। बादलसे गीला नहीं होता। ओलोंसे खण्डित नहीं होता। इसी प्रकार समस्त भूतोंमें व्याप्त होते हुए भो भगवती आत्मशक्ति जीवोंके पुण्य-पापका स्पर्श नहीं करती। श्रीगीतामें भी आकाश और आत्माकी निर्लिप्तताका संकेत किया गया है—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।

श्रीगीतामें ही कहा है कि भगवान् किसी के पुण्य और पापका ग्रहण नहीं करते—

नादत्ते कस्य चित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।

'करक' कमण्डलुको भी कहते हैं, जिससे घटाऽऽकाशके समान आकाशका परिच्छेद होता है। किन्तु आकाश अखण्ड है, उसका परिच्छेद नहीं होता। आकाशका परिच्छेद कल्पना-मात्र है। इसी प्रकार आत्मशक्ति भी अखण्ड है। उसका परिच्छेद नहीं होता। जीवकी सत्ता पारमार्थिक नहीं अपितु काल्पनिक है। भगवतीकी मायासे मोहित हो कर जीव अपने जीवत्वमें रहते हुए पुण्य-पाप, जन्म-मरण आदिका भागी बनता है। साधनाके द्वारा अपनें स्वरूपका साक्षात्कार करके वह जीवन्मुक्त हो जाता है। लोक-व्यवहार करते हुए भी वह आकाशके समान निर्लिप्त रहता है॥ ६॥

अवतरण — जीवके इस कल्पित जीवत्वकी कई अवस्थाएँ होती हैं। इनमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाएँ प्रसिद्ध हैं। ये अवस्थाएँ भी आत्मशक्तिके द्वारा अपने स्वरूपमें ही कल्पित हैं। अतः प्रतीत होती हुई भी ये वास्तविक नहीं। इस सातवीं कारिकामें जीवको इन अवस्थाओंकी अवास्तविकता और आत्मस्वरूपकी सत्यताका निर्देश किया गया है—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानि केवले नित्य आत्मनि ।
स्वकलाकल्पितानीति विलसन्त्यपि सन्ति नो ॥७॥

पदार्थ — जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन अवस्थाएँ उस अद्वैत और सनातन आत्मामें उसीकी शक्ति (कला) से कल्पित होती हैं। अतः प्रतीत होती हुई भी वे वास्तविक नहीं हैं। अर्थात् वे काल्पनिक हैं। उनकी पारमार्थिक-सत्ता नहीं है।

भावार्थ — व्यवहार-कालमें जीवको जिन अवस्थाओंकी प्रतीति होती है। उनमें तीन अवस्थाएँ मुख्य हैं, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। तुरीया अवस्थाका साक्षात्कार योगियोंको ही होता है। जिस मूल वस्तुमें इन चार अवस्थाओंकी प्रतीति हुआ करती है उसे तुरीयातीत कहते हैं। पहली तीन अवस्थाओंके रूप सर्व-विदित हैं और समस्त जीवोंको इनका अनुभव होता है। अन्तिम दोका अनुभव केवल योगियोंको ही होता है। जाग्रत् अवस्थामें जीव अन्तः करण और इन्द्रियोंके व्यापारमें समर्थ होता है। इन्द्रियोंके द्वारा उसे बाह्य विषयोंका बोध होता है। यह जीवकी सबसे साधारण अवस्था है। इसी अवस्थामें लोकव्यवहार होता है। इस अवस्थामें जीवकी 'विश्व' नामक संज्ञा होती है। 'माण्डूक्य' उपनिषद्में इसे 'वैश्वानर' कहा है। दूसरी अवस्था स्वप्न कहलाती है। स्वप्नकी अवस्थामें इन्द्रियोंके बाह्य व्यापार शान्त हो जाते हैं। अतः बाह्य विषयोंका बोध नहीं होता। किन्तु अन्तः-

करण सजग रहता है और अन्तःकरणके द्वारा आन्तरिक तथा मानसिक विषयोंका बोध होता है। इस अवस्थामें जीवकी 'तैजस' नामक संज्ञा होती है। तीसरी अवस्था सुषुप्ति है। स्वप्नो से रहित गहरी निद्राको सुषुप्ति कहते हैं। इसमें अन्तःकरण भी शान्त हो जाता है और आन्तरिक विषयोंका भी बोध नहीं होता। किन्तु सुषुप्तिके पश्चात् उठ कर जब हम यह कहते हैं कि 'मैं सुख-पूर्वक सोया और मुझे कुछ भी बोध नहीं रहा' तो यह अनुभव इस बातका प्रमाण है कि सुषुप्तिमें बोधका पूर्ण अभाव नहीं होता। अपनी शान्त अवस्थाका बोध तो रहता ही है, जिसका स्मरण जागने पर होता है। सुषुप्तिका विषय कारण या अतिसूक्ष्म है जो बाह्य और आन्तरिक विषयोंके विलीन होने पर शेष रह जाता है। सुषुप्तिमें जीवकी 'प्राज्ञ' नामक संज्ञा होती है।

सुषुप्तिसे भी परे एक चौथी अवस्था होती है जिसे किसी नामके अभावमें 'तुरीया' कहते हैं। तुरीयाका अर्थ ही चौथी अवस्था है। तुरीया अवस्थामें सुषुप्तिके कारण या अति सूक्ष्मका भी जो साक्षी आत्मा है उसका आभास होता है। यह वही साक्षी आत्मा है जो सुषुप्तिके आनन्दका अनुभव करता है। 'तुरीया'से भी परे आत्माका वास्तविक स्वरूप है, जिसका निर्वचन कठिन है और वस्तुतः यह कोई अवस्था या दशा नहीं है। यह सब अवस्थाओंसे अतीत आत्माका पूर्ण समरस स्वरूप है। इन दोनों अवस्थाओंका अनुभव योगियोंको ही होता है। साधारण जनोंको वह दुर्लभ है। अथवा यों कहना चाहिए कि इन अवस्थाओंकी प्राप्ति ही योगका लक्षण है। इन्ही अवस्थाओंमें प्रकाश-विमर्श-स्वरूप आत्माका बोध होता है। पहली तीन अवस्थाएँ बन्धन-रूप हैं। अन्तिम दो अवस्थाएँ मुक्तिके अनुरूप है।

ये सभी अवस्थाएँ कल्पित हैं, वास्तविक नहीं। अवस्था काल-गत स्थिति है, आत्मा अकाल और नित्य है। उसमें किसी प्रकारका विकार

नहीं होता। वह सदा अपने आनन्दमय स्वरूपमें स्थित रहती है। वह अपनी शक्ति (कर्तृता) के द्वारा अपने स्वरूपमें ही इन अवस्थाओंकी कल्पना अर्थात् रचना करती है। आत्मशक्तिकी मायासे प्रतीत होती हुई भी ये अवस्थाएँ वास्तविक नहीं हैं। आत्मा इन अवस्थाओंका त्रिकालातीत अधिष्ठान है। आत्मा केवल अथवा अद्वितीय है। अतः इन अवस्थाओंके उद्भावनका कोई अन्य आधार नहीं है। ये अवस्थाएँ आत्माकी शक्तिके द्वारा आत्मामें ही कल्पित हैं। यह शक्ति ही कला अथवा सौन्दर्य है। वह त्रिपुरसुन्दरी सभी अवस्थाओंके सौन्दर्यमें विभासित होती है ॥७॥

अवतरण -- पिछली कारिकामें बताया गया है कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं। इन्हीं अवस्थाओंमें लोकका व्यवहार होता है। यदि ये अवस्थाएँ काल्पनिक हैं तो लोक और विश्व भी अवास्तविक है। यदि इनकी वास्तविक सत्ता नहीं है, तो इनके होनेसे क्या लाभ है और इनके न होनेसे क्या क्षति है? इस आठवीं कारिकामें विश्वकी इस अर्थ-हीनताका संकेत किया गया है--

विद्यमाने जगति को लाभो नष्टे च का क्षतिः ।
वन्ध्यासुते जीवति नो लाभो हानिश्च नो मृते ॥८॥

पदार्थ — परमार्थ-दृष्टिसे जगत् असत् है। तब विवेकी पुरुषको उसके होनेसे कोई लाभ नहीं और उसके नष्ट हो जानेसे कोई हानि नहीं। यह असत् जगत् वन्ध्या-पुत्रके समान है। वन्ध्या-पुत्रके जीवित रहनेसे कोई लाभ नहीं और उसके नष्ट हो जानेसे कोई हानि नहीं।

भावार्थ — यह जगत् इन्द्रजालके समान कल्पित और परमार्थतः असत् है जो काल्पनिक और असत् है उसके रहनेसे किसीको कोई

लाभ नहीं और उसके नष्ट हो जानेसे कोई हानि नहीं। परमेश्वर और विवेकी-जन जगत्की सत्ता अथवा उसके नाशसे निरपेक्ष हैं। जगत्के होने अथवा न होनेसे उनके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं आता। इस दृष्टिसे यह जगत् वन्ध्या-पुत्रके समान है। वन्ध्या-पुत्र एक वस्तु-शून्य विकल्प-मात्र है उसके जीवित रहनेसे कोई लाभ नहीं और मर जानेसे कोई हानि नहीं। वन्ध्या-सुतके समान ही यह विश्व भी वस्तु-शून्य विकल्प है। वह विवेकीके लिये अकिञ्चित्कर है, किन्तु अविवेकीके लिये बन्धनका कारण है ॥ ८ ॥

अवतरण -- यदि यह जगत् असत् और कल्पना-मात्र है तो इसमें होनेवाले पुण्य और पाप भी प्रयोजन-हीन हैं। वह किसी फलके साधक नहीं हैं। इस नववीं कारिकामें यही बताया गया है कि शशशृङ्गके धनुषकी दृढ़ता अथवा अदृढ़ताके समान कर्मके शुभ और अशुभ होनेका कोई फल नहीं है —

अवद्यमनवद्यं वा क किं साधयेदसत् ।
शशशृङ्गं धनुर्यद्वदद्दृढं दृढमेव वा ॥ ९ ॥

पदार्थ — जगत्के समान ही कर्म भी असत् है। वह चाहे पुण्यरूप हो चाहे पापरूप हो, असत् होनेके कारण वह शुभ और अशुभ फल उत्पन्न नहीं करता। यह कर्म शश-शृङ्गके धनुषके समान असत् है। शश-शृङ्गका धनुष चाहे दृढ़ हो, चाहे अदृढ़ हो, उससे कोई लक्ष्यवेध नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार असत् रूप कर्म निष्फल है।

भावार्थ — जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं। जिस जगत्में इन अवस्थाओंका व्यवहार होता है, वह भी मिथ्या है। इस असत् जगत्में जो कर्म होते हैं। वे

भी असत् हैं जगत् कर्मका आधार है। जब आधार ही असत् है तो उसमें आश्रित कर्म भी असत् होगा। जब कर्म स्वयं ही असिद्ध है तो वह और किसका साधन करेगा। असत् होनेके कारण कर्मके शुभ और अशुभ होनेका कोई अर्थ नहीं है और वह पुण्य-पाप-रूपी फलका साधक नहीं हो सकता। विवेकी और जीवन्मुक्त जनोंके लिये जगत्के असत् होनेके कारण कर्मका फल बन्धनका कारण नहीं होता। विवेकीके लिये जगत् शशश्रृङ्गके धनुषके समान असत् है। शश-श्रृङ्गका धनुष चाहे दृढ़ हो चाहे अदृढ़ वह अपने लक्ष्यको वेधनेमें समर्थ नहीं है। असत् होनेके कारण वह स्वयं ही असिद्ध है। फिर वह लक्ष्यका साधन क्या करेगा। इसी प्रकार विवेकीके लिये कर्म असत् है उसका शुभ और अशुभ होना पुण्य और पापमें फलित नहीं होता और न उसके बन्धनका कारण होता है। जीवन्मुक्तकी निर्मल आत्मा कर्म-फलसे कलुषित नहीं होती ॥ ९ ॥

अवतरण — यदि जगत्की प्रतीति बन्ध्या-पुत्रके समान मिथ्या है और जगत्का कर्म-व्यवहार शश-श्रृङ्गके धनुषके समान निष्फल है तो फिर आत्म-शक्तिके चमत्कारसे विश्व-लोकोंके स्फुरणका महत्त्व क्या है ? दसवीं कारिकामें लोकोंके इस स्फुरणके प्रति विवेकीजनके अभीष्ट उदासीन भावका संकेत किया गया है। अद्वैत-स्वरूप आत्म-शक्ति ही परम सत्य है। उसीके महान् तेजसे विश्वोंका उदय होता है। किन्तु इससे उसके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं आता। विश्वोंका स्फुरण उसके लिये लीला-मात्र है। ज्ञानी-जन-का भाव भी इसीके अनुरूप होना चाहिए—

स्फुरन्तु मा वा स्फुरन्तु विश्वान्यात्मनि किं ततः ।
आनन्दघनमद्वैतं चकास्त्येव महन्महः ॥ १० ॥

पदार्थ — आत्म-शक्तिसे जो विश्व-लोक स्फुरित होते हैं वे चाहे स्फुरित हों अथवा नहीं, उससे उसके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। आनन्दघन अद्वैत और अपरिमित परब्रह्म-रूप तेज तो सदा प्रकाशित होता ही रहता है। यही आत्म-शक्तिका वास्तविक स्वरूप है। विश्व-लोकोंका स्फुरण तो उसका लीला-विलास-मात्र है।

भावार्थ — यद्यपि परमेश्वरी आत्म-शक्तिके लीला-विलाससे ही विश्व-लोकोंका स्फुरण होता है। किन्तु आत्म-शक्तिका स्वरूप और उसकी सत्ता इन विश्व-लोकोंके स्फुरणके अधीन नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि आत्म-शक्तिका स्वरूप और उसकी सत्ता स्वतन्त्र है। वह विश्व-लोकोंके प्रकाशन पर निर्भर नहीं है। वह स्व-प्रकाश है और हमारी आत्म-संवेदनामें सर्वदा सिद्ध है। अपने अस्तित्वके विषयमें किसी मूढ़-को भी सन्देह नहीं होता। आत्म-शक्तिका यह स्वतः प्रकाशित स्वरूप ही उसकी सत्ताका स्वयं सिद्ध प्रमाण है। यद्यपि आत्म-शक्तिका स्वरूप-भूत तेज ही विश्व-लोकोंके रूपमें स्फुरित होता है, फिर भी आत्म-शक्तिकी सत्ता इन लोकोंके स्फुरण पर निर्भर नहीं है। वे चाहे स्फुरित हों चाहे न हों, इससे आत्म-शक्तिके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं आता। वह आत्मा सदा अपने स्वरूपमें स्थित रहती है। वह आनन्द-घन और अद्वैत है। आनन्द उसका स्वरूप है। जिस प्रकार लवणका खण्ड पूर्णतः लवण ही है और हिमका खण्ड पूर्णतः जल ही है उसी प्रकार आत्मा पूर्णतः आनन्द-स्वरूप ही है। वह अद्वैत-स्वरूप है। उसमें भेदका स्थान नहीं है। वह प्रकाश-स्वरूप है। उसका तेजोमय स्वरूप अपरिमित है। प्रकाश-विमर्शकी समरसता उसका स्वरूप है। विमर्श ही चमत्कार है। उसके चमत्कारसे ही विश्व-लोकोंका स्फुरण होता है। किन्तु उन लोकोंके स्फुरण पर उसका स्वरूप निर्भर नहीं है। इन लोकोंका स्फुरण हो अथवा न हो किन्तु आत्माका आनन्दमय और तेजोमय रूप सदा ही प्रकाशित रहता है।

ज्ञानी पुरुषोंको आत्माके इसी स्वरूपके साक्षात्कारमें तन्मय रहना चाहिए। वन्ध्या-पुत्रके समान असत् लोकोंके उदय और प्रलयके प्रति उदासीन रहना चाहिए ॥ १० ॥

अवतरण -- आनन्दघन और अद्वैत-स्वरूप आत्म-शक्तिके विमर्श-रूप चमत्कारसे विश्व-लोकोंका उदय होता है। सर्गमें परम आत्माका अपरिमित रूप मानो छिप-सा जाता है। स्वरूपके तिरोधानसे जीव-भावको प्राप्त होता है। स्वरूपका यह तिरोधान किसी पराधीन भावसे नहीं अपितु आत्माकी स्वतन्त्र इच्छासे होता है। इसे 'अपह्नव' कहते हैं। स्वतन्त्र इच्छाका फल होनेके कारण इसमें कोई दोष नहीं है। अपितु काव्यके अपह्नव अलङ्कारके समान वह सौन्दर्यका कारण है। 'कवि' सौन्दर्य और रसका स्रष्टा है। और वह अपने रसमें ही विभोर रहता है। इस दृष्टिसे वह आत्मा भी कवि है। इस ग्यारहवीं कारिकामें आत्माके इस कवि-रूपका ही निर्देश है—

कुर्वञ्जानँस्तथैवेच्छन् यदात्मानमपह्नुते ।
सोऽपह्नवोऽप्यलङ्कारः स्वरसे माद्यतः कवेः ॥११॥

पदार्थ — जब परमेश्वर एक महान् कवि बन कर इच्छा, ज्ञान, क्रिया इन तीनों शक्तियोंको उल्लासमें लाता हुआ अपने आपको तिरोधान-कृत्य-द्वारा छिपा देता है तो उसका यह अपह्नव (तिरोधान) भी अलङ्कार ही बन जाता है, क्योंकि जिस प्रकार कवि अपने काव्यके रसमें मस्त हो कर जब वस्तुका अपह्नव करता है तो वही अपह्नुति नामक अलङ्कार बन जाता है। उसी प्रकार अपने चैतन्य-के आनन्दमें मस्त रहनेवाले परमेश्वरका यह स्वरूप-तिरोधान भी एक अलङ्कार ही बन जाता है।

भावार्थ — चिदानन्द-स्वरूप परमात्माके महान् तेजसे विश्व-लोकोंका स्फुरण होता है। किन्तु आत्म-शक्तिका यह चमत्कार स्फुट नहीं है। वह कविके चमत्कारके समान ही अपह्नवकी छायामें छिपा रहता है। जिस प्रकार कविका स्वरूप और भाव उसकी रचनामें तद्रूपसे स्फुट नहीं रहता, अपितु नाटकके पात्र आदिके आवरणमें सामने आता है। उसी प्रकार विश्व-लोकोंकी रचनामें आत्माका स्वरूप जीव आदिके रूपमें प्रकट होता है। उसका अपरिमित-रूप जीव आदिके परिच्छेदमें तिरोहित हो जाता है। आत्माका यह स्वरूप तिरोधान दोष नहीं है अपितु काव्यके अपह्नव अलङ्कारकी भाँति शोभाका विधायक है। काव्यमें एक अपह्नव अलङ्कार होता है। इसे अपह्नुति भी कहते हैं। इस अलङ्कारमें किसी प्रकृत विषयका प्रतिषेध करके किसी अन्य विषय-का स्थापन किया जाता है। जब कवि यह कल्पना करता है कि यह आकाश नहीं क्षीरसागर है, यह तारागण नहीं फेनके बिन्दु हैं, यह चन्द्रमा नहीं है शेषनागकी कुण्डली है, यह चन्द्रमाका कलङ्क नहीं है शेष-कुण्डलीमें विष्णु भगवान् सोये हुए हैं, तो अपह्नुति-अलङ्कारका एक सुन्दर उदाहरण उपस्थित होता है। यह अपह्नुति काव्यका एक विशेष अलङ्कार है। किन्तु इसके अतिरिक्त अपह्नव काव्य-रचनाका सामान्य रूप भी है। जिस प्रकार अपने स्वरूपको छिपा कर कवि नाटकके पात्र आदिके रूपमें प्रकट हो कर काव्यकी रचना करता है उसी प्रकार परमात्मा भी जीव आदिके रूपमें प्रकट हो कर विश्व-काव्यकी रचना करता है। वह कविके समान ही स्रष्टा है और काव्यके समान ही उसका स्वरूप आनन्दमय है। काव्यमें इसे 'रस' कहते हैं। उपनिषदोंमें भी रसको ब्रह्मका स्वरूप माना है। रस आनन्दमय है। उपनिषदोंमें ब्रह्मकी 'कवि' संज्ञा भी है (कवि-र्मनीषी परिभूः स्वयंभूः)। कविके समान ही वह स्वतन्त्रता-पूर्वक विश्व-काव्यकी रचना करता है और अपने अद्भुत काव्यके रसमें निमग्न रहता है॥ ११॥

अवतरण — परमात्मा-रूपी कविके इस विश्व-काव्यका स्वरूप क्या है? वह किस प्रकार इस विश्व-काव्यकी रचना करता है और किस प्रकार इस काव्यके रसमें निमग्न रहता है, इसका विवरण बारहवीं कारिकामें किया गया है। काव्यमें कविका रूप तिरोहित हो जाता है। किन्तु वह अन्य रूपोंमें व्याप्त रहता है। इसी प्रकार परमात्मा-रूपी कवि भी अपने स्वरूपका तिरोधान करके विश्व-काव्यके रूपोंमें व्याप्त रहता है। अपने रसात्मक-स्वरूपसे उनमें रमण करके वह आनन्दमें निमग्न रहता है—

स्वप्रकाशं विमृश्याऽयं स्वविमर्शं प्रकाश्य च ।
विश्वानि कवयँस्तेषु रमते हि रसात्मना ॥ १२ ॥

पदार्थ — अपनी प्रकाश-रूपताका विमर्श करके और अपनी विमर्शरूपताको प्रकाशित करके परमेश्वर समस्त भाव-समूहकी कल्पना करता हुआ कवि बन कर उन समस्त भाव-समूहोंके भीतर अपनी रसमयता अर्थात् अपनी स्वात्म-चमत्कार-रूपी आनन्दमयतासे रमण करता है अर्थात् निग्रहाऽनुग्रह-लीलाका विलास करता रहता है।

भावार्थ — वह परमात्मा प्रकाश-विमर्श-स्वरूप है। उसके स्वरूपमें प्रकाश और विमर्शकी समरसता है। यह प्रकाश और विमर्श एक दूसरेसे अभिन्न हैं। एकके बिना दूसरेकी कल्पना कठिन है, फिर भी दोनोंके रूपमें यह विवेक संभव है। विमर्श आत्माकी बहिर्मुखी दृष्टि है। 'अहम्' इसका रूप है। आगमोंमें इसे 'विसर्ग' कहते हैं। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि प्रकाशके बिना यह 'अहम्'का आत्मबोध संभव नहीं है। प्रकाश अन्तर्मुखी दृष्टि है। जिसमें विमर्शका विसर्ग विश्व-लोकोंमें विभासित होता है।

आत्माके इसी प्रकाश-विमर्श-समरसाकार स्वरूपके विमर्शसे विश्व-लोक विभासित होते हैं। अभिन्न होनेके कारण यह विमर्श आत्माके

प्रकाश-स्वरूपका ही विमर्श है। अर्थात् आत्माका अखण्ड और अनन्त चैतन्य ही 'अहम्'के आत्मबोधमें स्फुरित होता है। दूसरी ओर आत्माका अन्तर्मुख प्रकाश इस विमर्शको ही प्रकाशित करता है। अर्थात् 'अहम्'के आत्मबोधमें स्फुरित चैतन्य ही बहिर्मुख-रूपमें विभासित होता है। प्रकाशका विमर्शन अनुग्रह और आरोह है। इसकी गतिमें आत्माके स्वरूपका प्रत्यभिज्ञान होता है। विमर्शका प्रकाश अवरोह और बन्धन है। किन्तु यह काव्यके समान विश्व-कवि-रूप आत्माकी स्वच्छन्द क्रीड़ा है। विश्व-काव्यकी रचना आत्माके विमर्शका प्रकाशन है। किन्तु साथ ही उसका आत्मानुभव-रूप विमर्श अक्षुण्ण रहता है। वह आत्मा कविके समान स्वतन्त्र तथा आनन्दमय है। अपने प्रकाश-स्वरूपमें स्थित रहते हुए भी वह विश्व-काव्योंके रूपोंमें विभासित होता है। विश्व-रूपोंमें व्याप्त रहते हुए भी वह अपने रसात्मक रूपमें विभोर रहता है। विश्वातीत होते हुए भी वह विश्वमय है। विश्व-रूपोंका निर्माण करके वह अपने रसात्मक स्वरूपसे उनमें रमण करता है अर्थात् आनन्दका अनुभव करता है। प्रकाश और विमर्श दोनों ही रूपोंमें वह आनन्दमय है। प्रकाशका विमर्श स्वरूपके प्रत्यभिज्ञानका आनन्द है। विमर्शका प्रकाश उसकी स्वतन्त्र-रचनात्मक-क्रियाका आनन्दमय लीला-विलास है॥ १२॥

अवतरण—पिछली कारिकाओंमें आत्म-शक्तिके कवि-रूपका वर्णन किया गया है। कवि अपनी स्वतन्त्र इच्छासे काव्यकी सृष्टि करता है। उसी प्रकार परमात्मा अपनी स्वतन्त्र इच्छासे अपने विमर्शके प्रकाश द्वारा विश्वकी सृष्टि करता है। यह विश्व उसका काव्य ही है। परमात्माका यह विश्वकाव्य काव्योंमें अत्यन्त रमणीय है। यह विश्व-काव्य दृश्य-काव्य है, जिसे रूपक अथवा नाटक भी कहते हैं। काव्य-शास्त्रमें यह प्रसिद्धि है कि "काव्येषु नाटकं रम्यम्"। नाटकके अनुरूप होनेके कारण परमात्माका विश्व-काव्य सुन्दरतम काव्य है। नाटकके

समान ही यह हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक है। इस तेरहवीं कारिकामें नाटकके लक्षणोंके अनुरूप परमात्माके विश्व-काव्यका विवरण किया गया है —

> सभ्यो नटो विभावादिभावा रङ्गः स्वयं भवन् ।
> स्वचरित्राऽनुकारेण स्वमेव भजते रसम् ॥ १३ ॥

पदार्थ — (परमात्मा-रूपी कवि किन्हीं बाह्य उपकरणोंसे नाटककी रचना नहीं करता। नाटकके सब अङ्ग उसके स्वरूपके ही प्रकाश हैं। वही सब रूपोंमें विभासित होता है।) यह परमात्मा-रूपी कवि स्वयं ही नाटकका प्रेक्षक, नट, विभाव, अनुभाव आदि भाव और रङ्गभूमिके रूपमें प्रकट होता हुआ अपने ही चरित्रका अनुकरण करता है और इस विश्व नाटककी रचनामें आत्म-चमत्कारके रसका आस्वादन करता रहता है।

भावार्थ — नाटक काव्यका सबसे सुन्दर रूप है। दृश्य होनेके कारण वह सबसे अधिक रमणीय है और क्रियात्मक होनेके कारण सबसे अधिक सजीव है। नाटक लोकके चरितका अनुकरण है। उसके अनेक अङ्ग होते हैं। नाटक दृश्य काव्य है। दूसरे लोगोंको दिखानेके लिये नाटकका अभिनय किया जाता है। यह दर्शक-समाज नाटकका पहला और प्रमुख अङ्ग है। दर्शकोंको दिखानेके लिये जो लोग अभिनय करते है उन्हें 'नट' कहते हैं। आधुनिक भाषामें उन्हें हम 'अभिनेता' कह सकते हैं। ये अभिनेता इतिहासके पात्रोंके चरितका अनुकरण करते हैं। काव्य-शास्त्रके अनुसार काव्य अथवा नाटकमें विभाव, अनुभाव आदिके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है। रस ही काव्यका स्वरूप है। इस रसके अनेक उपकरण होते हैं। जिस पात्रमें रसकी निष्पत्ति होती है उसे 'आश्रय' कहते हैं और जिस पात्रके सम्बन्धके द्वारा आश्रय रसका अनुभव करता है उसे 'आलम्बन-विभाव' कहते हैं। प्रकृतिके जो दृश्य

रसके उत्कर्षमें सहायक होते हैं वे 'उद्दीपन-विभाव' कहलाते हैं। आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन तीनों 'विभाव'के अन्तर्गत हैं। मनुष्यके मनमें रति आदि स्थायी भाव निहित रहते हैं। वे इन उपकरणोंके सहयोगसे जाग्रत् हो कर परिपक्व होते हैं। यही रस-निष्पत्तिकी अवस्था है। स्मृति आदि संचारी-भाव भी किंचित्-कालके लिए उपस्थित हो कर रसके स्फुरणमें योग दे जाते हैं। रस-परिपाककी अवस्थामें हर्ष कम्पन आदि जो आङ्गिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं। ये स्थायी संचारी और अनुभाव 'भाव' के अन्तर्गत हैं। 'भाव' से अभिप्राय मानसिक और आङ्गिक अवस्थाओंसे है। रसके इन उपकरणोंके द्वारा दर्शक नाटकमें रसका अनुभव करते हैं। जिस स्थान पर नाटकका अभिनय किया जाता है उसे रङ्गभूमि कहते हैं।

लौकिक नाटकके ये अङ्ग अलग-अलग होते हैं। लोककी स्थिति भेद-मूलक है। किन्तु परमात्मा एक और अद्वैत है। उसके अतिरिक्त और किसीकी सत्ता नहीं है। अतः उसका यह विश्व नाटक अनेक-रूप प्रतीत होते हुए भी मूलतः एक-रूप है। वह किन्हीं बाह्य उपकरणोंको ले कर विश्व-नाटककी रचना नहीं करता। विश्व-नाटकके सभी अङ्ग और उपकरण परमात्माके ही स्वरूप हैं। इस विश्वनाटकमें वह किसी अन्य ऐतिहासिक चरितका अनुकरण नहीं करता। विश्वके पूर्व किसी इतिहास और चरितकी कल्पना नहीं की जा सकती। वह स्वयं अपने ही चरितका अनुकरण करता है। वही स्वयं दर्शक, अभिनेता और आश्रय बन जाता है। वही आलम्बन और उद्दीपन विभाव बन जाता है। स्थायी, संचारी भाव आदि भी वही है। वही रङ्गभूमि बन जाता है। इस प्रकार 'एकोऽहं बहुस्याम्'के अनुरूप वह एक परमात्मा ही अनेक रूप बन कर इस विश्व-नाटककी रचना करता है। जिस प्रकार दर्शक नाटकके रसका आस्वादन करता है उसी प्रकार परमात्मा ही

स्वयं अपने चरितका अनुकरण करता हुआ अपने इस विश्व-नाटकके रसका आस्वादन करता है। इस दृष्टिसे परमात्माका यह विश्व-नाटक महान् होनेके साथ साथ विचित्र भी है। शिवसूत्रमें 'आत्माको नर्तक बताया गया है। ('नर्तक आत्मा') आत्म-चमत्कारके अभिनय-द्वारा वह विश्व-नाटककी रचना करके स्वयं ही उसका रसास्वादन करता है॥ १३ ॥

अवतरण — नाटकका मौलिक रूप अभिनय ही है, क्योंकि वह चरितका अनुकरण है। किन्तु नाटक, साहित्य अथवा वाङ्मयका भी एक अङ्ग है। लिपि-बद्ध हो कर वह वाङ्मयकी स्थायी विभूति बन जाता है। पिछली कारिकामें बताया गया है कि विश्व-नाटकके सभी अङ्ग परमात्माके रूप हैं। परमात्मा ही स्वयं दर्शक, अभिनेता आदि बन कर विश्व-नाटककी सृष्टि करता है और स्वयं उसके रसका आस्वादन करता है। किन्तु अभिनीयमान विश्व-नाटकके अतिरिक्त समस्त वाङ्मय भी परमात्माका ही रूप है। प्रकाश-रूप 'बिन्दु' वाङ्मयका बीज है। बिन्दुका ही विस्तार रेखा और वर्ण हैं। वर्ण ही मिलकर पदों और वाक्योंकी रचना करते हैं। इनसे ही ग्रन्थोंका रूप बनता है। अतः समस्त वाङ्मय बिन्दुका ही विस्तार है। बिन्दु आत्माका प्रकाश है। अतः समस्त वाङ्मय परमात्माके आत्म-प्रकाश-रूप बिन्दुका ही विस्तार है। इस चौदहवीं कारिकामें परमात्माके वाङ्मय-रूपका ही विवरण है —

रेखा बिन्दुं लिपी रेखां पदानि लिपिमन्तरा।
वाक्यं पदानि ग्रन्थोऽपि वाक्यानि न हि विद्यते ॥१४॥

पदार्थ — बिन्दुके विना रेखा नहीं बन सकती, रेखाके बिना लिपि-

रूप, वर्णकी कोई सत्ता नहीं, वर्णोंके बिना पदका कोई अस्तित्व नहीं, पदोंके बिना वाक्य सत्ता-हीन हो जाता है और वाक्य-बिना ग्रन्थ का होना सम्भव नहीं। अतः बिन्दु रेखा, वर्ण, पद, वाक्य और ग्रन्थकी परम्पराके द्वारा यह प्रमाणित होता है कि अखिल वाङ्मय परमात्माके प्रकाश-रूप बिन्दुका ही विस्तार है।

भावार्थ — यह विश्व-नाटक परमात्माकी चमत्कारमयी विमर्श-लीलाका विलास है। नाटकके अभिनेय-रूपके अतिरिक्त उसका एक लिपि-बद्ध रूप भी होता है। **कालिदास, भवभूति** आदिके नाटक आज इसी रूपमें उपलब्ध हैं। लिपि-बद्ध हो कर नाटक तथा काव्यके अन्य रूप वाङ्मयकी स्थायी विभूति बन जाते हैं। जिस प्रकार विश्व-नाटकका दृश्य और अभिनेय रूप परमात्माके आत्म-विमर्शका ही विस्तार है, उसी प्रकार नाटक और काव्यका वाङ्मय-रूप भी परमात्माके स्वरूपका ही विस्तार है। परमात्माके वाङ्मय-स्वरूपका निर्देश ग्रन्थके आरम्भमें दूसरी कारिकामें किया गया है। प्रस्तुत कारिकामें उसीका विस्तृत और विशद विवरण है। वाङ्मय ग्रन्थोंके रूपमें होता है। ग्रन्थका निर्माण वाक्योंसे होता है। ग्रन्थ वाक्यमय ही है। वाक्य पदों अथवा शब्दोंसे बनते हैं। पदोंका निर्माण वर्णोंसे होता है। वर्ण रेखाओंके विन्यास हैं और रेखा बिन्दुका विस्तार है। इस प्रकार समस्त वाङ्मय बिन्दु-रूप ही है। 'रेखा' बिन्दुके अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'वर्ण' रेखाके अतिरिक्त, 'शब्द' वर्णके अतिरिक्त, 'वाक्य' शब्दके अतिरिक्त और 'ग्रन्थ' वाक्यके अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। इस अन्योन्याश्रित परम्पराके द्वारा यही प्रमाणित होता है कि समस्त वाङ्मय बिन्दु-रूप ही है। 'बिन्दु' परमात्माके आत्म-प्रकाशका प्रतीक है। बिन्दुका विस्तार होनेके कारण समस्त वाङ्मय परमात्माका ही रूप है। व्याकरण-दर्शनमें ब्रह्मकी शब्द-रूप में कल्पना की गयी है। शब्द-रूप होनेके कारण ब्रह्म

समस्त वाङ्मयका रूप है। किन्तु यह बिन्दुकी कल्पना उससे भी अधिक सूक्ष्म है। शब्द वाग्रूप है। चतुर्विध वाक्के द्वारा ब्रह्मके वाङ्मय-रूपकी व्याख्या की जाती है। परासे ले कर वैखरीतकका क्रम उसकी संगतिका सूत्र है। किन्तु बिन्दुकी कल्पना उससे भी अधिक विशद रूपमें परमात्माके वाङ्मय-रूपकी व्याख्या करती है। शब्द वाङ्मयके नाद-रूपकी व्याख्या करता है। बिन्दु वाङ्मयके लिपि-रूपकी भी व्याख्या करता है। परिपूर्ण अहं-विमर्श और लिपि-बीजके रूपमें बिन्दुका श्लेष इस अद्‌भुत व्याख्याका रहस्यमय सूत्र है॥ १४॥

अवतरण — पिछली कारिकामें बिन्दु, रेखा, वर्ण, पद, वाक्य और ग्रन्थके परम्परा-सम्बन्धके द्वारा परमात्माके वाङ्मय-रूपका विवरण किया गया है। बिन्दु परमात्माके 'अहं-विमर्श'की संज्ञा है। बिन्दुका भाव अन्तर्मुख है। वह जिस शक्तिके द्वारा विश्व-रूप अथवा वाङ्मय-रूप धारण करता है उस शक्तिका नाम आगमोंमें 'विसर्ग-शक्ति' है। सर्गका अर्थ सृष्टि है। 'विसर्ग-शक्ति' परमात्माकी विचित्र और चमत्कारमयी सृजनात्मक शक्ति ही है। उसे 'कला' भी कह सकते हैं। विश्व और वाङ्मय उस विसर्ग-शक्ति-रूप कलाकी ही सुन्दर रचना है। इस पन्द्रहवीं कारिकामें शिवकी इस विसर्ग-रूप शक्तिके द्वारा वाङ्मयके विस्तार और वाङ्मयके शिव-रूपका निर्देश किया गया है —

अचिन्त्यया विसर्गाख्यनिजशक्त्या स्वरूपया।
बिन्दुरेव शिवो भाति समस्तं वाङ्मयं सदा॥ १५॥

पदार्थ — शिव-रूप बिन्दु ही अचिन्त्य और स्वात्म-स्वरूप अपनी 'वैसर्ग-शक्तिके द्वारा सदा समस्त वाङ्मयके रूपमें प्रकट होता है।

अर्थात् आत्म-प्रकाश-रूप बिन्दु ही शिव है। वह शिव-रूप बिन्दु ही अपनी 'विसर्ग' नामक शक्तिके द्वारा अखिल विश्व और वाङ्मयके रूप में विभासित होता है। शिवकी यह शक्ति अचिन्त्य है। वह हमारे विचारसे अतीत है। किन्तु वह शिवका स्वरूप ही है। शिव और शक्ति एक दूसरेसे अभिन्न हैं।

भावार्थ — परमात्मा बिन्दु-रूप है। उस शिव-रूप बिन्दुसे ही रेखा, वर्ण आदिके क्रमसे अखिल वाङ्मयका विस्तार होता है। यह विस्तार जिस शक्तिके द्वारा होता है उसे परमेश्वरकी 'विसर्ग-शक्ति' कहते हैं। सर्गका अर्थ सृष्टि है। 'विसर्ग-शक्ति' परमात्माकी सृजनात्मक शक्ति है। बिन्दु परमात्माके स्वरूपका आत्म-प्रकाश है। वह परिपूर्ण 'अहं'-स्वरूप है। इस बिन्दुसे ही विसर्गका निर्माण होता है। एक बिन्दुके नीचे दूसरे बिन्दुका न्यास ही 'विसर्ग' बन जाता है। इस प्रकार 'विसर्ग' बिन्दुका ही रूप है। इसी लिये विसर्ग-शक्तिको परमेश्वरका स्वरूप कहा है। परमेश्वर शक्तिमान् है। शक्ति उससे अभिन्न है। उसी प्रकार 'विसर्ग' भी बिन्दुसे भिन्न नहीं है। विसर्ग बिन्दुमय ही है। एक बिन्दु ही बहु-रूप बन कर विसर्ग और वाङ्मयका विधान करता है। वह विसर्ग और वाङ्मय दोनोंमें व्याप्त है। मातृका-क्रममें अनाश्रितसे ले कर विसर्ग पर्यन्त वर्ण शिवमय और शक्ति-घन माने गये हैं। वर्णमाला 'ह'कार पर्यन्त है। 'ह'कार विसर्गके ही समान है। अतः वर्णमालाको विसर्ग पर्यन्त मान सकते हैं। वर्णमालाका विस्तार वाङ्मयका आधार है। वह विसर्ग-रूप है। अर्थात् बिन्दुका विस्तार है। बिन्दु शिवका स्वरूप है। वह प्रकाश-स्वरूप शिवका आत्म-विमर्श है। विमर्श सदा वाग्रूप होता है। इसी लिए भर्तृहरि आदि आचार्योंने परविमर्शको परा वाक् माना है। परमेश्वरकी यह विसर्ग-शक्ति उससे अभिन्न और

उसका स्वरूप ही है, जिस प्रकार विसर्ग बिन्दु-रूप ही है। किन्तु परमेश्वरकी यह विसर्ग-शक्ति अचिन्त्य है। वह बुद्धिसे अगम्य और विचारातीत है। साधनाके द्वारा उसका साक्षात्कार किया जा सकता है किन्तु तर्क अथवा बुद्धिके द्वारा उसका अवगम संभव नहीं है। तर्क भेद-मूलक है। परमात्मा अद्वैत-स्वरूप है। अतः अद्वैत-भावसे ही उसका साक्षात्कार किया जा सकता है ॥ १५ ॥

अवतरण—परमात्मा विश्व-काव्य अथवा विश्व-नाटकका रचयिता कवि है। विश्व-नाटकके अभिनयके साथ साथ वह दर्शक बन कर स्वयं ही उसका रसास्वादन करता है। वह काव्य अथवा नाटकका ध्वन्यात्मक रूप होनेके साथ साथ उसका लिपि-रूप भी है। शब्द-ब्रह्म होनेके साथ साथ बिन्दु-रूप परमेश्वर ही अपनी विसर्ग-शक्तिसे, वर्ण आदिकी परम्परा-द्वारा ग्रन्थोंमें व्याप्त है। अतः परमेश्वर वाङ्मय-रूप है। वाङ्मय शब्द और अर्थ-युक्त है। पिछली कारिकाओंमें नाद और लिपि दोनों रूपोंमें परमेश्वरके शब्द-रूपका विवरण किया गया है। इस सोलहवीं कारिकामें परमात्माके अर्थरूपका निर्देश है। बिन्दुके विस्तार-द्वारा शिव ही वर्ण-रूप वाङ्मयमें व्याप्त है। अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियोंके द्वारा उस शब्द-रूप वाङ्मयमें महान् अर्थके रूपमें शिव ही स्फुरित होता है —

वाच्यवाचकसम्बन्धाल्लक्ष्यलक्षकयोगतः।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावाच्च महार्थः प्रस्फुरेच्छिवः ॥१६॥

पदार्थ — विश्व-काव्यमें अभिधाके द्वारा वाच्य-वाचक-सम्बन्धसे, लक्षणाके द्वारा लक्ष्य-लक्षक-योगसे तथा व्यञ्जनाके द्वारा व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भावसे महार्थ-रूपमें परमेश्वर प्रकाशित हो सकता है। अर्थात्

विश्व-काव्यमें परमेश्वर ही वाङ्मय-रूपसे प्रकाशित हो सकता है। विमर्श-रूप परमेश्वरके बिन्दु-भावका विस्तार ही वर्णमय वाङ्मय है। उस वाङ्मयका अर्थ-तत्त्व भी शिव ही है। वह त्रिविध-शक्तियोंके द्वारा प्रकाशित हो सकता है।

भावार्थ — पिछली कारिकाओंमें कविरूपमें परमेश्वरके स्वरूपका निर्देश किया गया है। परमात्मा-रूपी कवि अपनी स्वतन्त्र विमर्श-शक्तिके द्वारा इस विश्व-काव्यकी रचना करता है। बिन्दु-रूप परमेश्वरके आत्म-विस्तारसे समस्त वर्णमय वाङ्मयका विकास होता है। अतः परमात्मा वाङ्मय-रूप है। बिन्दु, रेखा, पद आदिकी परम्परासे वह समस्त वाङ्मयमें व्याप्त है। किन्तु वाङ्मय शब्द-रूप ही नहीं वह अर्थ-रूप भी है। जिस प्रकार शब्द-रूप वाङ्मय शिवका ही स्वरूप है उसी प्रकार अर्थ-रूप वाङ्मय भी शिवका स्वरूप ही है। उस शब्दमय वाङ्मयमें अर्थ-रूपमें शिव ही प्रकाशित होता है। शब्द और अर्थका सहित-भाव ही वाङ्मयका सम्पूर्ण रूप भी है। काव्य-शास्त्रमें शब्द और अर्थके सहित भावके रूपमें ही काव्यकी परिभाषा की गयी है। (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्)। शब्द और अर्थ अभिन्न हैं। कालिदासने 'रघुवंश'के मङ्गलाचरणमें पार्वती और परमेश्वरको वाक् और अर्थके समान अभिन्न माना है। वाक् शक्ति है और अर्थ शिव है। शब्द (वाक्) की शक्तिके द्वारा अर्थ स्फुरित होता है।

शब्दकी ये शक्तियाँ तीन प्रकारकी मानी जाती हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। इन तीनों ही शक्तियोंके द्वारा अर्थका बोध होता है। किन्तु इन शब्द शक्तियोंके रूप और व्यापारमें कुछ अन्तर है। जिस शक्तिके द्वारा कोष, व्याकरण आदिके अनुरूप सामान्य अर्थका बोध होता है उसे 'अभिधा' कहते हैं। शब्दके उच्चारणमें पहले इसी अर्थका बोध होता है। अतः 'अभिधा'

शक्तियोंमें प्रथम है । 'एक मनुष्य नदीमें डूब गया', अथवा 'नदीमें नाव चल रही है' । इन वाक्योंमें अभिधा-शक्तिके द्वारा सामान्य अर्थका बोध होता है । जिस शक्तिके द्वारा अभिधा-मूलक अर्थकी संगतिके लिये अर्थ-बोधका जो व्यापार होता है उसे 'लक्षणा' कहते हैं । उदहरणके लिये 'नदी पर गाँव है' । इस वाक्यमें अभिधाके द्वारा अर्थ-बोध नहीं होता क्योंकि नदीकी धाराके ऊपर गाँव नहीं हो सकता । अतः 'नदीकी उससे सम्बद्ध 'नदी तीर'में लक्षणा करके वाक्यका संगत अर्थ-बोध होता है । व्यञ्जनाके द्वारा भी लक्षणाके समान अतिरिक्त अर्थका ही बोध होता है । किन्तु उस अर्थका अभिधार्थसे कोई संयोग अथवा सम्बन्ध नहीं होता । शब्दोंमें उस अर्थके संकेतका स्पष्ट सूत्र नहीं होता । उदाहरणके लिये यदि कोई पथिक जा रहा हो और उससे यह कहा जाय कि 'अब सूर्यास्त हो गया' तो 'रात्रिके अन्धकारमें जाना उचित नहीं है, मार्गमें वन्य पशुओंका भय है अतः इस समय न जाइये' इस अर्थका बोध अभिधा और लक्षणाके द्वारा नहीं अपितु व्यञ्जनाके द्वारा होता है ।

साहित्यमें व्यञ्जना-प्रधान काव्यको श्रेष्ठ माना जाता है । व्यञ्जनामें भी रसकी व्यञ्जना सर्वश्रेष्ठ है । रस अभिधेय नहीं है । व्यञ्जना-द्वारा ही वह काव्यमें स्फुरित होता है । 'रस' ही काव्य अथवा नाटकका प्रमुख अर्थ है । रस आनन्दमय है । परमात्मा भी रस-स्वरूप है । वही इस विश्व-काव्यका परम अर्थ है । इस वाङ्मय-रूप विश्व-काव्य-में शिव-रूप महान् अर्थ ही स्फुरित होता है । किन्तु साहित्यके काव्य और परमात्माके इस विश्व-काव्यमें इतना अन्तर है कि जहाँ साहित्यके काव्यमें व्यञ्जनाके द्वारा ही रस और अर्थकी उत्तम अभिव्यक्ति होती है वहाँ परमात्माके विश्व-काव्यमें तीनों ही शक्तियोंके द्वारा रसकी अभिव्यक्ति होती है । यह इस विश्व-काव्यकी विचित्रता है ।

फिर भी दोनोंमें इतना साम्य है कि 'अभिधा' और 'लक्षणा'के द्वारा रसकी अभिव्यक्ति संभव होते हुए भी व्यञ्जनामें ही रसका स्फुरण पूर्णताको प्राप्त होता है। 'अभिधा' वाच्य-वाचकका सम्बन्ध है। सम्बन्धमें भेदका अंश शेष रह जाता है। रसका पूर्ण स्फुरण अद्वैत-भावमें ही होता है। 'लक्षणा' लक्ष्य और लक्षकका योग है। योगमें अधिक निकटता और घनिष्ठता होती है। अतः 'लक्षणा'में रसाभिव्यक्तिकी सामर्थ्य 'अभिधा'की अपेक्षा अधिक है। किन्तु 'व्यञ्जना' व्यङ्ग्य और व्यञ्जकका समात्मभाव है। अतः उसमें रसका पूर्ण स्फुरण होता है। यों उत्तरोत्तर क्रमसे विश्व-काव्यमें भी व्यञ्जना ही सर्व-श्रेष्ठ है। किन्तु 'अभिधा'के सम्बन्ध और 'लक्षणा'के योगके मूलमें भी आत्म-चेतनाका आधार रहता है। इस दृष्टिसे आत्म-शक्ति-रूप शिव इनमें भी व्याप्त हैं। इन तीनों शक्तियोंको हम जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाओंके समान मान सकते हैं ॥ १६ ॥

अवतरण — अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियोंके वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य भावोंके द्वारा परमात्मा प्रकाशित होता है। इससे ऐसा आभास होता है कि मानों वह इस अभिव्यक्तिके परवश हो। वस्तुतः परमात्मा स्वतन्त्र है। वह सच्चिदानन्द-स्वरूप है। वह अपनी स्वतन्त्र इच्छाके द्वारा ही इन शक्तियोंके द्वारा प्रकाशित होता है। उसका परवश-भाव भी अपनी स्वच्छन्द लीला-शक्तिका विलास है। इन शक्तियोंके विमर्शके पराधीन होने पर भी उसका स्वतन्त्र और आनन्दमय-भाव अखण्डित रहता है —

वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यभावविमर्शपरवान् भवन्।
सच्चिदानन्दस्वरूपः शिव एव प्रकाशते ॥ १७ ॥

पदार्थ — वाच्य-भाव, लक्ष्य-भाव और व्यङ्ग्य-भावके विमर्श-द्वारा विमृश्यमान होंनेसे, उस प्रकारके विमर्शके अधीन होता हुआ भी वह सच्चिदानन्द-रूप शिव ही सदा प्रकाशित होता है। अर्थात् इन भावोंके द्वारा विमृश्यमान होनेसे उसकी स्वतन्त्रता और आनन्दमयता खण्डित नहीं होती। वह सदा अपने स्वतन्त्र और आनन्दमय-रूपमें स्थित रहता है और उसी अच्युत-रूपमें सदा प्रकाशित होता है।

भावार्थ — पिछली कारिकामें बताया गया है कि वाच्य-वाचक-सम्बन्ध, लक्ष्य-लक्षक-योग और व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भावसे अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियोंके द्वारा समस्त वाङमयमें अर्थ-रूपसे शिव ही प्रकाशित होता है। वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य प्रमेय हैं। अतः प्रमेय-रूपमें विमृश्यमान होने पर परमात्मा उस विमर्शके पराधीन हो जाता है, ऐसी आशङ्का हो सकती है। इस परवशतासे परमात्माके स्वतन्त्र-भावकी क्षतिका सन्देह भी हो सकता है। इस सत्रहवीं कारिकामें इसी सन्देहका निवारण किया गया है। परमात्मा सच्चिदानन्द-स्वरूप है। वह पूर्ण स्वतन्त्र है अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्तिके द्वारा ही वह वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य-भावसे वाङ्मयमें विभासित होता है। इसमें यदि उसकी परवशताका भी आभास होता है तो एक तो वह वास्तविक नहीं है और दूसरे कुछ जो प्रतीति होती है वह उसकी स्वतन्त्र शक्तिके प्रकाशसे ही होती है। यद्यपि यह कहा गया है कि अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जनाके द्वारा महार्थ-रूप शिव प्रकाशित होता है। किन्तु सत्य यह है कि ये शक्तियाँ चिदानन्द-रूप शिवके प्रकाश और उसकी शक्तिसे ही अपने व्यापारोंमें प्रवृत्त होती हैं। पिछली कारिकामें 'स्फुरेत्'में लिङ्के प्रयोगके द्वारा शिवकी स्वतन्त्रताका संकेत किया गया है। शक्यार्थका बोधक होनेके साथ-साथ लिङ् इच्छा-स्वातन्त्र्यका सूचक भी है। इन

शक्तियोंके द्वारा महार्थ-रूप शिवका स्फुरण अपनी स्वतन्त्र इच्छाके द्वारा ही होता है। विश्व-काव्य अथवा वाङ्मयके रूपमें इन शक्तियोंके द्वारा विभासित होते हुए भी शिवका स्वतन्त्र और सच्चिदानन्द-रूप अखण्डित रहता है। विश्व-काव्य, विश्व-नाटक और इन शक्तियोंके व्यापार शिवकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्तिके लीला-विलास हैं ॥ १७ ॥

अवतरण — पिछली कारिकाओंमें परमात्माके वाङ्मय-रूपका विवरण किया गया है। शब्द और अर्थ-रूप वाङ्मयमें विमर्श-शक्तिके द्वारा शिव ही प्रकाशित होता है। काव्यके रसके समान वह परम रस-स्वरूप शिव वाङ्मयमें अभिव्यक्त हो कर स्वयं अपने रसका आस्वादन करता है। परमात्माके रस-स्वरूपकी अभिव्यक्ति तीनों ही शक्तियोंके द्वारा होती है। यह उसके विश्व-काव्यकी विचित्रता है। काव्यमें व्यञ्जनाके द्वारा रसकी निष्पत्ति होती है। इस रस-व्यञ्जनाकी दो विधाएँ काव्यशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं। एकको 'सँल्लक्ष्यक्रम' और दूसरीको 'असँल्लक्ष्यक्रम' कहते हैं। एकमें विभाव आदिका ज्ञान पहले होता है और रसकी अभिव्यक्ति पीछे होती है। इसमें कारण और कार्यका सम्बन्ध स्पष्ट दिखाई देता है। दूसरीमें शीघ्रताके कारण क्रम स्फुट नहीं रहता उसे असँल्लक्ष्य-क्रम कहते हैं। विश्व-काव्यमें और वाङ्मयमें अभिव्यक्त होनेवाले रस-स्वरूप परमात्माकी अभिव्यक्तिका क्रम क्या है, यह इस अठारहवीं कारिकामें लक्षित किया गया है। जिस प्रकार तीनों ही शक्तियोंके द्वारा विश्व-काव्यमें परमात्माकी अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार क्रम, अक्रम और विक्रम (विचित्र क्रम) तीनों ही प्रकारसे विश्व-काव्यमें परमात्माके रसकी अभिव्यक्ति होती है। परमात्माको यह क्रम और विक्रम अपने स्वरूपमें ही होता है और वह स्वयं क्रमणके साथ-साथ स्वतन्त्र भावसे रसका आस्वादन भी करता है —

स्फुरन् क्रमेणाऽक्रमेण विक्रमेण च सन्ततम् ।
स्वस्मिन्नेवोरुक्रमोऽयं क्रमते रमतेऽपि च ॥ १८ ॥

पदार्थ — क्रमसे, अक्रमसे और विक्रमसे निरन्तर प्रकाशित होता हुआ वह अपरिमित शक्तिमान् परमेश्वर अपने स्वरूपके भीतर ही अपना विक्रम दिखाता रहता है और अपनी क्रीड़ाका आनन्द लेता रहता है ।

भावार्थ — परमात्माका विश्व-काव्य साहित्यके सामान्य-काव्यसे विचित्र है । साहित्यके काव्यमें रसकी अभिव्यक्ति व्यञ्जनाके द्वारा ही होती है । किन्तु विश्व-काव्यमें परमात्माके रसकी अभिव्यक्ति अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीनों ही शक्तियोंके द्वारा होती है । साहित्यके काव्यमें रस-व्यञ्जनाके व्यापारकी दो विधाएँ विदित हैं । एक सँल्लक्ष्यक्रम और दूसरी असँल्लक्ष्यक्रम कहलाती है । पहलीमें विभाव आदिके ज्ञानसे जो रसाभिव्यक्ति होती है उस कारण और कार्यका सम्बन्ध स्फुट दिखाई देता है । दूसरीमें शीघ्रताके कारण यह क्रम स्पष्ट नहीं रहता । पहली अभिव्यक्तिके क्रममें कारण और कालकी गति स्पष्ट होती है । दूसरीमें इसका अभाव-सा प्रतीत होता है । पहलीमें एक कालगत क्रम है ।

काव्यमें रसाभिव्यक्तिके ये ही दो रूप होते हैं । किन्तु परमात्माके विश्व-काव्यमें इन दो रूपोंके अतिरिक्त एक तीसरा क्रम भी होता है, जिसे नियत क्रमके अभावके कारण 'विक्रम' अथवा 'विचित्र-क्रम' कह सकते हैं । परमात्माका सक्रम रूप सृष्टि और विलय तथा साधनाके अवरोह और आरोहमें विदित होता है । किन्तु यह क्रम-रूपता ही उसके स्वरूपका सर्वस्व नहीं है । विश्व-काव्य और साधनामें वह क्रमका आदर करते हुए भी

क्रमातीत और कालातीत है। क्रम कालगतिकी प्रक्रिया है। परमात्मा कालमें व्याप्त होते हुए भी कालातीत है। क्रमानुकूल सृष्टिके अवरोह-क्रममें व्यक्त होते हुए भी और साधनाके आरोह-क्रममें साक्षात् होते हुए भी वह अपने आनन्दमय स्वरूपसे च्युत नहीं होता। यह अच्युति उसका अक्रम-रूप है। निरन्तर विश्व-क्रममें प्रकाशित होता हुआ भी वह अपनी परिपूर्ण अहन्तामें अविचल रूपसे स्थित रहनेके कारण क्रम-रूपताका अनादर भी करता है। इस प्रकार विश्व-रूपमें क्रम-गतिके द्वारा स्फुरित होता है और उसके साथ-साथ शिव-रूपमें अक्रमसे स्फुरित होता है।

परमात्माके अभिव्यक्ति-क्रमकी यह विलक्षणता है। क्रमके अन्तर्गत अनियमितताके रूपमें उसकी और भी विलक्षणताएँ प्रकट होती हैं। इसलिये परमात्माका अभिव्यक्ति-क्रम विचित्र ही है। पहली विचित्रता तो यह है कि वह सक्रम और अक्रम दोनों रूपों में स्फुरित होता है। दूसरी विचित्रता यह है कि एक ओर जहाँ छत्तीस तत्वों और साधनाके सोपानोंमें क्रमकी नियमितता दिखाई देती है वहाँ दूसरी ओर दोनों ही क्षेत्रोंमें नियमके अभावके साथ क्रमकी विचित्रता दिखाई देती है। परमात्मा पूर्ण स्वतन्त्र और सर्व-शक्तिमान् है। स्वतन्त्र होनेके कारण वह किसी अन्य नियमका दास नहीं है। उसकी स्वच्छन्द इच्छाके अतिरिक्त विश्वमें और कोई नियम नहीं है। सर्ग और साधना दोनोंमें क्रमकी विलक्षणता परमात्माकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्तिका ही चमत्कार है। परमात्माका यह महान् विक्रम अपने स्वरूपके अन्तर्गत ही है। इस क्रमणके अन्तर्गत वह अपने आनन्द-निर्भर स्वरूपमें भी स्थित रहता है। इस प्रकार वह अपने स्वरूपकी स्थिति और अभिव्यक्तिके विविध क्रम दोनोंका ही आनन्द लेता है। एक उसकी स्वतन्त्र शक्तिका विलास है और

दूसरा उसका कभी तिरोहित न होने वाला स्वरूप है। वह अपनी लीला और अपने स्वरूप दोनोंके ही आनन्दमें निमग्न रहता है ॥ १८ ॥

अवतरण — विश्व-काव्यके रूपमें परमात्मा ही प्रकाशित होता है। अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीनों शक्तियोंके द्वारा सक्रम, अक्रम और विक्रम तीनों रूपोंमें उसके रसकी अभिव्यक्ति होती है। शान्त, घोर और घोरतम रूप और नामोंके द्वारा वह निग्रह और अनुग्रह करता है। सर्ग, स्थिति और लय सभीमें उसकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्तिका लीला विलास है। इन सब बातोंका विवरण पिछली कारिकाओंमें किया गया है। इस उन्नीसवीं कारिकामें इस समस्त विषय-जातका सङ्क्षेपमें निर्देश है। इस गम्भीर और रहस्य-पूर्ण कारिकाको हम श्रीविद्याका बिन्दु कह सकते है, जिसमें शास्त्रका समस्त भाव-तत्व समाहित हो कर रहस्य-ज्ञानके आलोकमें प्रकाशित है। विश्व-काव्यके समान समस्त शास्त्र इसी बिन्दु-तत्त्वका विस्तार है —

स्वरसाममृतां बिन्दुविसर्गाढ्यां परः शिवः।
लालयँल्ललते नित्यं ललितामात्मनः कलाम् ॥ १६ ॥

पदार्थ — परम शिव आत्मानन्द-रूपिणी तथा अमृत-रूपिणी, बिन्दु और विसर्गकी महिमासे अति समृद्ध बनी हुई अपनी परम रमणीय-शक्ति ललिता नामक कलाका लालन करता हुआ सदा अपने लालित्यमें निमग्न रहता है।

भावार्थ — परम शिव ही विश्वका परम-तत्त्व है। उसके अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं है। वह परम-शक्तिमान् है। इस शक्तिके द्वारा ही वह विश्वकी सृष्टि और जीवोंका निग्रह एवं

अनुग्रह करता है। शिवकी यह शक्ति शक्तिमान् शिवसे अभिन्न है। यह शिवका स्वरूप ही है। शिवका यह स्वरूप रसमय अथवा आनन्द-मय है। शिवकी यह शक्ति भी शिवके स्वरूपके आनन्दसे निर्भर है। इसी लिये कारिकामें इसको 'स्वरसाम्' कहा है। आगमोमें इस शक्तिकी संज्ञा 'कला' है। 'कल'का प्रयोग गति और संख्यानके अर्थमें होता है। संख्यानको 'कलन' और 'ज्ञान' दोनों ही कह सकते हैं। शिवकी यह शक्ति विश्वके अवरोह-क्रममें साकार होती है। यह उस शक्तिकी गति है। वह विश्वकी स्थितिका संरक्षण और अन्तमें उसका संहार करती है। यह शक्तिका 'कलन' है। प्रकाश-विमर्श-रूप यह शक्ति सदा अपने स्वरूप-विमर्शमें स्थित रहती है और इसके अतिरिक्त समस्त ज्ञानका आधार है। यह शक्तिका 'सँख्यान' है। लोक-व्यवहारमें भी कलाका प्रयोग विद्या और निर्माण-कौशल दोनोंके अर्थमें होता है। साहित्यमें कला सौन्दर्य-विधायिनी शक्ति है। शिवकी शक्ति विश्व-काव्यकी विधात्री है। इस अभिन्न शक्तिके उल्लाससे ही शिव सृष्टि आदि कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं और इसीके चमत्कारसे अपने स्वरूपके आनन्दमें निमग्न रहते हैं।

शिवकी यह कला उनके आनन्दमय स्वरूपसे अभिन्न है, इस लिये वह 'स्वरसा' है किन्तु वह 'अमृता' भी है। अमृतका अर्थ अविनश्वर है। वह कला कालसे अतीत होनेके कारण शाश्वत है। इसके साथ-साथ वह अमृतके समान मधुर और आह्लाददायिनी है। वह ललिता अर्थात् सुन्दरी भी है। वह परम सौन्दर्य-रूपा और लोकमें सौन्दर्यकी विधायिनी है। इसी लिये उसका 'त्रिपुर-सुन्दरी' नाम है। वह अमृता और सुन्दरी कला विन्दु और विसर्गसे सम्पन्न है, तथा उनकी स्वामिनी भी है। बिन्दु और विसर्ग शिवकी प्रकाश और विमर्श शक्तियोंके नाम हैं।

बिन्दु परिपूर्ण अहन्ताकी अन्तर्मुखी वृत्ति है। विसर्ग सृष्टिके प्रकाशनकी बहिर्मुखी वृत्ति है। शिवकी सुन्दरी 'कला' बिन्दु और विसर्ग दोनों ही शक्तियोंसे परिपूर्ण है। इसके साथ-साथ वह दोनों ही शक्तियोंकी स्वामिनी भी है। तात्पर्य यह है कि वह शक्ति स्वतन्त्र है। अपनी स्वतन्त्र इच्छाके द्वारा वह सृष्टिका निग्रह और अनुग्रह करती है।

शिव उस आत्म-शक्ति-रूप सुन्दरी कलाका निरन्तर लालन करते हैं। शिवकी मूर्तियोंमें उनके जूटमें अङ्कित प्रतिपदाकी अमृता कला इसीकी प्रतीक है। परम प्रेयसीके समान शिव उसका रञ्जन करते हैं और उसीके ध्यानमें निमग्न रहते हैं। अपनी कलाके इस लालनमें वे परम आनन्दका अनुभव करते हैं और इसी आनन्दमें सदा निमग्न रहते हैं ॥ १९ ॥

अवतरण — सार संक्षेप-रूपमें उन्नीस कारिकाओंके द्वारा श्रीविद्याके रहस्यमय तत्त्वका निर्देश करके आचार्य महोदयने शास्त्रके माहात्म्य और फलका निर्देश इस बीसवीं कारिकामें किया है। शिव और शक्ति परम आनन्द-स्वरूप हैं। उनके स्वरूपका निरूपण इस 'श्रीविंशतिकाशास्त्र'में किया गया है। जो कोई उसका पूर्ण-रूपसे विमर्श करेगा अर्थात् अन्तर्मुख आत्म-बोधके रूपमें स्थिर करेगा वह स्वयं आनन्दसे पूर्ण होगा। आनन्दसे पूर्ण होनेके कारण संसारके विषयोंमें उसकी आसक्ति और ममता न रहेगी, तथा वह शान्त-भावको प्राप्त होगा। कोई कामना शेष न रहनेके कारण वह यदृच्छा-भावसे जीवन व्यतीत करेगा। यही जीवन्मुक्तिकी अवस्था है —

विमृश्यैवमशेषेण स्वानन्दरससम्भृतः।
निःसङ्गो निर्ममः शान्तो मुनिर्यादृच्छिको भवेत् ॥२०॥

पदार्थ — इस प्रकारसे कहे हुए इस समस्त शास्त्रका मनन करके अपने स्वात्म-आनन्दके रसमें परिपूर्ण हो कर, तथा सङ्ग-रहित, ममता-रहित और शान्त बन कर मुनि विषय-त्याग और विषय-स्वीकरणमें तटस्थताका भाव धारण करे, यही परम उपदेश है।

भावार्थ — शास्त्रका प्रयोजन जिज्ञासुओंके लिये तत्त्वका निर्देश होता है। निर्देशके सूत्रोंको ग्रहण कर वे साधनाका अध्यवसाय करते हैं। तत्त्वके विमर्शसे साधनाके रहस्य प्रकाशित होते हैं और साधनासे लक्ष्यकी सिद्धि होती है। अध्यात्मकी यही त्रिविध-चर्या वेदान्तमें श्रवण, मनन और निदिध्यासनके नामसे प्रसिद्ध है। शास्त्रका अध्ययन श्रवण है वह अपार करुणामय गुरु और आचार्योंके अनुग्रहका फल है। मनन तत्त्वका विमर्श है जिसके द्वारा अध्यात्मके रहस्य प्रकाशित हो कर बुद्धिमें स्थिर होते हैं। साधनाके द्वारा शास्त्रके तत्त्व अनुभव और जीवनकी विभूति बनते हैं।

इस 'श्रीविंशतिका-शास्त्र'में आचार्य-महोदयने संक्षेपमें श्रीविद्याके तत्त्वोंका निर्देश किया है। इसमें परम-शिवके आनन्दमय-स्वरूप और उनकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्तिके द्वारा विश्व-काव्यकी रचनाका संकेत है। इस शास्त्रका पूर्ण-रूपसे मनन करना चाहिए। इस शास्त्रके मननसे जो तत्त्व-दर्शन होगा, उससे आनन्दका अनुभव होगा। शिव परम-आनन्द-पूर्ण हैं। अपने शिव-स्वरूपका बोध होने पर साधक भी आनन्द-रससे पूर्ण होता है। ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होता है। शिव हमारा स्वरूप ही है। उसका साक्षात्कार करके हम आनन्दमय स्थितिको प्राप्त करते हैं।

इस आनन्दमय शिव-भावको प्राप्त कर कोई कामना शेष नहीं रह जाती। यह आत्माकी आप्तकाम स्थिति है। पूर्णकाम होनेके कारण सिद्ध-पुरुषको किसी सांसारिक पदार्थमें आसक्ति अथवा ममता नहीं

रहती। अतः वह असङ्ग और निर्मम हो जाता है। कामना-रहित होनेके कारण वह शान्त भी हो जाता है। शान्ति समत्वकी स्थिति है, जिसमें मनुष्य अपने स्वरूपके विमर्शमें मौन-भावसे सँल्लग्न रहता है। यही 'मुनि'की अवस्था है। इस शान्त और मौन मुनि-भावको प्राप्त कर सिद्ध पुरुष यदृच्छा-भावको प्राप्त होते हैं। यदृच्छाका अर्थ ग्रहण और त्यागके प्रति तटस्थ-भाव है। इस स्थितिमें मनुष्य न किसी वस्तुके ग्रहणके लिये इच्छुक और उत्सुक रहता है तथा न किसी वस्तुके त्यागसे खिन्न होता है। वस्तुतः ग्रहण और त्यागमें उसका कोई यत्न और अनुराग नहीं रहता। जो कुछ अनायास मिल जाता है वह उसीसे सन्तुष्ट रहता है। किसी अभावसे वह खिन्न नहीं होता। यही जीवन्मुक्तिकी अवस्था है। शास्त्रके मनन और साधनाके फलके इस निर्देशमें साधनाके लक्षणोंका भी संकेत है। असङ्गता, निर्ममता, शान्ति आदि शास्त्रके विमर्श और साधनाके फल हैं। किन्तु इसके साथ-साथ इन लक्षणोंके वर्धन-द्वारा साधना दृढ़ और सिद्धि सुलभ होती है। असङ्गता, निर्ममता, शान्ति, तत्त्व-विमर्श मौन और यदृच्छा-वृत्तिके सम्पादन-द्वारा मनुष्य समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो कर आनन्दमयी जीवन्मुक्ति प्राप्त कर सकता है। शास्त्र-विमर्शके फलका यह निर्देश साधनाके श्रेष्ठ मार्गका उपदेश भी है ॥२०॥

अवतरण — बीस कारिकाओंमें श्रीविद्याके मूल-तत्त्व, उसके अनुशीलनकी विधि तथा उसके माहात्म्यका निर्देश करके इस इक्कीसवीं कारिकामें इस शास्त्रके अधिकारीका निरूपण और इसके प्रयोजनका संकेत करते हैं। मुक्ति-दायक और मङ्गलमय श्रीविद्यामें वैराग्यवान् मनुष्यकी ही अभिरुचि हो सकती है, आत्म-बोधका साधक यह शास्त्र सुन्दर-मनवाले लोगोंको शरण देने योग्य है। ऐसे वैराग्यवान् मनुष्य ही इसके अधिकारी हैं। यह उत्तम शास्त्र समस्त दुःखोंका अन्त करके

अनन्त आनन्द प्राप्त करानेवाला है —

वैराग्यवन्मनुजसेव्यमिदं सदैव
हृद्यप्रबोधचतुरं सुमनःशरण्यम् ।
नाऽतः परं किमपि शास्त्रमशेषशोक-
पाथोधिशोषकरणेन शिवानलः स्यात् ॥२१॥

पदार्थ — इस शास्त्रका अभ्यास करनेके अधिकारी वैराग्यवान् मानव हैं। यह शास्त्र हृद्यता-पूर्वक शिष्यको समझानेमें बड़ा उपयोगी है। सुन्दर-मनवाले मनुष्योंको यह शरण देने योग्य है, अथवा उपयोगी है। देवता भी इसकी शरण ले सकते हैं। इतना इसका माहात्म्य है। समस्त दुःख-रूप समुद्रको सुखा देनेसे यह शास्त्र शिवमय अग्नि है, और इस कार्यमें इस शास्त्रसे बढ़ कर और कोई शास्त्र नहीं है।

भावार्थ —अध्यात्मके गम्भीर तत्त्वोंसे परिपूर्ण यह "श्रीविंशतिका-शास्त्र" मनुष्यमात्रके लिये उपयोगी और कल्याण-कारी है। किन्तु लौकिक-वासनाओं और बन्धनोंसे कुछ विरत हो कर ही मनुष्य इस शास्त्रसे लाभ उठानेकी योग्यता प्राप्त कर सकता है। इसके बिना न वह इस शास्त्रके रहस्योंको समझ सकता है और न इससे कोई लाभ उठा सकता है। इस लिये वह इस शास्त्रका अधिकारी नहीं है। अधिकारी ही 'रहस्य-शास्त्र'में दीक्षा लेने योग्य है। श्रीविद्याका अधिकारी वही मनुष्य है जो वैराग्यवान् है। कामनाओंके बन्धनमें बँधे हुए लोग इसके अधिकारी नहीं हैं। यद्यपि विषय-वासनाका विनाश और वैराग्य इस शास्त्रका फल ही है, किन्तु बीज-रूपमें विषयोंसे कुछ विरक्ति होने पर ही इस शास्त्रमें मनुष्यकी अभिरुचि

हो सकती है, और वह इस शास्त्रके फलको प्राप्त कर सकता है। अतः लौकिक और पारलौकिक भोगोंके प्रति विरक्तिकी भावना ही अध्यात्म-शास्त्रके अधिकारीका प्रमुख लक्षण है। प्रत्येक मनुष्य वैराग्यकी भावना प्राप्त करके इस शास्त्रका अधिकारी बन सकता है। इस दृष्टिसे इस शास्त्रके अधिकारमें वर्ण, आश्रम, वय, लिङ्ग आदिका बन्धन नहीं है। प्रत्येक वर्ण, वय, आश्रम और लिङ्गका मनुष्य वैराग्यके द्वारा इसका अधिकारी बन सकता है। 'श्रीविंशतिकाशास्त्र' तर्कके जटिल और दुरूह जालोंसे मुक्त है। इसमें काव्यकी मधुर और मनोहर शैलीके द्वारा अध्यात्मके तत्त्वोंको हृद्य-रूपमें रखा गया है। हृद्य-मनवाले मनुष्योंके लिये ही यह प्रबोध करनेमें उपयुक्त है। जटिल तर्कमय शास्त्रोंसे पाण्डित्य प्राप्त हो सकता है। किन्तु तत्त्व-दर्शनके लिये हृद्य मन और हृद्य-शास्त्र अपेक्षित हैं। अतः यह शास्त्र सुन्दर मनवाले मनुष्योंको शरण देने योग्य है। सुन्दर-मनवाले मनुष्य ही इस शास्त्रकी शरण ले कर मुक्ति लाभ कर सकते हैं।

यहाँ तक इस शास्त्रके अधिकारीका प्रसङ्ग है। इस शास्त्रका प्रयोजन 'मोक्ष' है। 'मोक्ष' समस्त दुःख, शोक, सन्ताप आदिका अन्त और अनन्त आनन्दमय शिवकी प्राप्ति है। अनेक प्रकारके समस्त दुःख और शोकोंके पारावारके समान ही यह संसार है। उस पारावारको सोखनेके लिये यह तेजोमय शास्त्र शिव-रूप अर्थात् मङ्गलमय अग्निके समान है। दुःखमय संसारसे मुक्ति और आनन्द-रूप शिवकी प्राप्तिके लिये यह शास्त्र सर्वोत्तम है। इससे अधिक उत्तम और कल्याण-कारी कोई शास्त्र नहीं है ॥२१॥

अवतरण — पिछली कारिकामें इस शास्त्रके अधिकारी और इसके प्रयोजनका निरूपण किया गया है। इस बाईसवीं कारिकामें शास्त्रके प्रणेता और प्रणयनकालका परिचय है —

विक्रमतो जननरमित -
वर्षेऽष्टम्यां सिते कवौ नभसि ।
श्रीविंशतिकां निरमात्
श्रीमदमृतवाग्भवाऽऽचार्यः ॥२२॥

पदार्थ — दो सहस्र आठ विक्रमी सम्वत्में श्रावण-मासके शुक्ल-पक्षकी अष्टमी तिथिके दिन शुक्रवारको श्रीमान् अमृतवाग्भव आचार्यने श्रीविंशतिकाशास्त्रका निर्माण किया ।

भावार्थ — इस शास्त्रका निर्माण श्रीमान् अमृतवाग्भव आचार्यने सम्वत् २००८ विक्रमीमें श्रावण मासके शुक्ल पक्षकी अष्टमी तिथिको शुक्रवारके दिन किया । इसके प्रणेता आचार्य 'श्री' अर्थात् वैराग्य, भक्ति, विवेक, विद्या आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं । वे अमृतके समान मधुर और शाश्वत सत्तामयी वाक् अर्थात् भगवती विमर्श-शक्तिके साक्षात् औरस हैं । जिस प्रकार माता वात्सल्य-पूर्वक पुत्रका लालन पालन करती है उसी प्रकार भगवती विमर्शशक्तिने उनका लालन किया है । जिस प्रकार शिशु अपना सर्वस्व माताको सौंपकर निःशङ्क और निश्चिन्त हो जाता है उसी प्रकार वे भी अपनेको सर्व-शक्तिमयी जगदम्बाको समर्पित कर निश्चिन्त रहे हैं । शिष्यों और जिज्ञासुओंके लिए उनका यह आचार अनुकरणीय है । इसीलिए वे आचार्य हैं । इस शास्त्रकी रचना उन्होंने विक्रमी सम्वत २००८ में की है । जिसका निर्देश जैमिनीय गणित-सूत्रके अनुसार 'जननर'के द्वारा किया गया है । 'ज' ८ का, 'न' ० का और 'र' २ का वाचक है । इस प्रकार 'जननर' ८००२का वाचक है । शास्त्र-परम्पराके अनुसार अङ्कका निर्देश सदा विपरीत-क्रममें किया जाता है । अतः विलोम-क्रमसे 'जननर' सम्वत् २००८ का वाचक है । इस वर्षके

श्रावण मासमें अष्टमी तिथिकी शुक्रवारके दिन आचार्य महोदयने इस शास्त्रका निर्माण किया ॥ २२ ॥

अवतरण — अन्तिम कारिकामें ग्रन्थ-निर्माणके निमित्तका निर्देश किया गया है —

अत्रिगोत्रसमुद्भूतमिश्रगोविन्दशर्मणः ।
बोधार्थं निर्मितं शास्त्रमेतज्जानन्तु पण्डिताः ॥२३॥

पदार्थ — अत्रि-गोत्रवाले मिश्र-गोविन्दशर्माके प्रबोधके लिये यह शास्त्र बनाया गया है । ऐसा पण्डित-जन जानें ।

भावार्थ — यद्यपि शास्त्रका निर्माण मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये होता है फिर भी किसी शिष्यके निमित्तसे ही प्रायः आचार्योंने शास्त्रका उपदेश किया है । जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके निमित्तसे मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये श्रीगीता-शास्त्रका उपदेश किया उसी प्रकार आचार्य महोदयने अत्रि-गोत्रमें उत्पन्न गोविन्दमिश्रके प्रबोधनके निमित्तसे इस 'श्रीविंशतिका-शास्त्र'का निर्माण किया । किन्तु एक शिष्यके निमित्तसे निर्मित यह शास्त्र मनुष्यमात्रके लिये कितना कल्याण-कारी है, यह विद्वानोंके समझनेकी बात है । वस्तुतः ऐसे माङ्गलिक शास्त्रोंकी रचना जगदम्बाके अनुग्रहसे ही होती है । विद्वान् जन इस रहस्यको जानते हैं । अतः वे समझ सकते हैं कि भगवतीके अनुग्रहसे एक शिष्यके प्रबोधनके लिये निर्मित यह शास्त्र मनुष्यमात्रके परम कल्याणके लिए है ॥ २३ ॥

—•✱•—

श्रीगुरुचरणोंकी करुणाका मधु-प्रसाद जो पाया
मति के अल्पपात्रमें जितना वर्षा-नीर समाया।
श्रीचरणोंका अर्घ्य वही बन हो प्रसाद जन-मनका
मन्द वचन-व्यापार पर्व हो देवीके वन्दनका ॥

मिट्टीके दुर्भेद्य दुर्गका लोहागढ़ बन लोहा
श्रीदुर्गाके शक्तिपीठ-सा दिव्य धरा-पर सोहा।
इसकी ही उर्वर अवनीके महिमामय अञ्चलमें
वासन्ती कुसुमोंका सौरभ छाया अन्तस्तलमें ॥

भूत-ब्रह्म-आकाश-पक्षयुत विक्रम-सम्वत्सरमें
आरम्भिक आषाढ़ मासके घन-छाये अम्बरमें।
दुर्गाव्रतसे पूत अष्टमी कृष्ण-पक्षकी आयी
चन्द्रवारमें तब 'प्रसादिनी' पूर्ण हुई मन-भायी ॥

पा कर पुण्य शरण श्रीगुरुके पावन अमृत-चरणमें
भव्य भरतपुरका निवास भी सफल हुआ जीवनमें।
दिव्य कृपासे अल्प-कालमें रच 'प्रसादिनी' टीका
'रामानन्द' कृपाका भाजन सहसा हुआ सभीका।

दिव्य 'पार्वती'की महिमासे हो कृतार्थ जीवनमें
करके नाम यथार्थ समुज्ज्वल वाणीके वन्दनमें ।
पा 'प्रसादिनी'की रचनामें अमृत-प्रसाद निराला
धन्य 'भारती-नन्दन' कविकी हुई वचनकी माला ।।

—०❀❀०—

श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्रकी
डा० श्रीरामानन्द 'भारतीनन्दन'-प्रणीत
'श्रीप्रसादिनी'-नामक (हिन्दी) व्याख्या

सम्पूर्ण हुई ।

—०❀❀❀०—

श्रीपञ्चस्तवी

द्वितीय संस्करण प्रस्तुत है। इसमें प्रथम लघुस्तवकी ६००वर्षसे भी अधिक प्राचीन संस्कृत टीका तथा राष्ट्रभाषानुवादके साथ मुद्रित है। शेष चार स्तोत्र मूलमात्र हैं। साथ ही इस संस्करणमें श्रीमहानुभव-शक्तिस्तव भी दिया गया है। कागज और छपाई बहुत उत्तम है। मू० ।।) डाकव्यय अलग

तीसरी बार **श्रीराष्ट्रालोक** छप गया

राष्ट्रभाषानुवाद--सहित

राष्ट्रवादी ही आर्य हैं आर्य ही शान्तिकी स्थापना कर सकते हैं।

भारत भारतीयोंका है

स्वातन्त्र्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। राष्ट्र हमारा पिता है, माता है, और आचार्य है। हम सदा उसके सेवक हैं। -- हमारा राष्ट्र हमें भोग और मोक्ष दोनों देता है।

हम सच्चे राष्ट्रिय हैं।

अभारतीय भारतके अतिथि हो सकते हैं राष्ट्रिय नहीं

हम संक्रान्तिका सदा आदर करते हैं। हमें ऐसी शान्ति नहीं चाहिये जो राष्ट्रको परतन्त्र बनाये।

राष्ट्रिय राष्ट्रके पुत्र होते हैं, पति नहीं।

भारतीय अपने आपको हिन्दू माननेमें गौरवका अनुभव करते हैं भारतीय आदर्शके विपरीत क्रान्ति किक्रान्ति है संक्रान्ति नहीं यदि आप इन भावोंसे स्नेह करते हैं तो "श्रीराष्ट्रालोक" अवश्य पढ़िये

श्रीराष्ट्रालोक परम पवित्र भारतीय आदर्शका एक जीवन शास्त्र है

राष्ट्रप्रेमी इसका आदर कर रहे हैं। जनता हाथों हाथ अपना रही है आप भी आज ही मंगाईये। मू० ।।) मार्गव्यय अलग

श्री:

महामहिम-आचार्य-श्रीमदमृतवाग्भवप्रणीत--

कतिपय ग्रन्थरत्न

१- श्रीपरशुरामस्तोत्र-- राष्ट्रभाषानुवादसहित सचित्र
तृतीय संस्करण मू० विश्वोद्धार

२- श्रीराष्ट्राऽऽलोक-- राष्ट्रभाषानुवादसहित
तृतीय संस्करण मू० ।।)

३- श्रीआत्मविलास- "श्रीसुन्दरी" राष्ट्रभाषाभाष्य
सहित मू० २)

४- श्रीसप्तपदीहृदय-- (नवीन संस्करण संस्कृत-हिन्दी-अँग्रेजी
व्याख्याओंके साथ मुद्रणालयमें है)

५- श्रीसंक्रान्तिपञ्चदशी-- राष्ट्रभाषागद्यपद्यानुवादसहित
द्वितीय संस्करण (मुद्रणालयमें है)

६- श्रीमहानुभवशक्तिस्तव-- संस्कृत तथा हिन्दी व्याख्या-
सहित मूल्य ।।)

७- श्रीमदमृतसूक्तिपञ्चाशिका- संस्कृत तथा हिन्दी व्याख्यासहित
(मुद्रणालयमें हैं)

८- श्रीस्वाध्यायमहिमस्तोत्र-- (प्रकाशनीय)

९- श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्र-- आपके हाथोंमें ही है